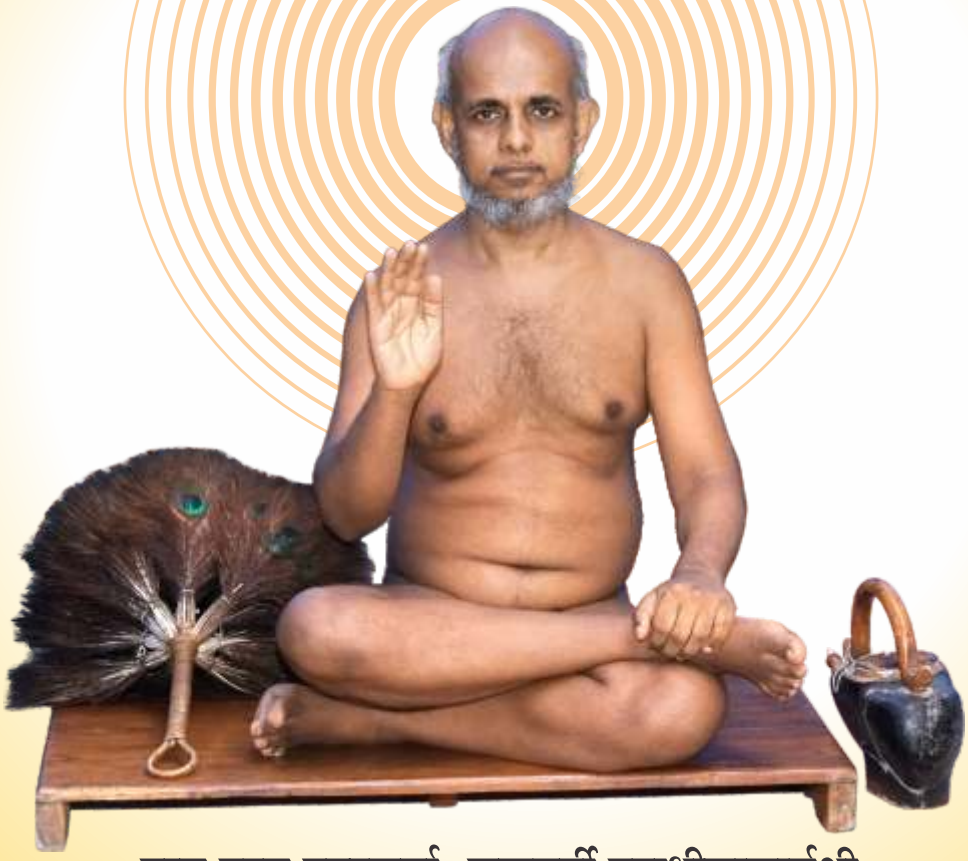

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

उपयोगशतकम्

ग्रन्थकर्त्ता
परम पूज्य मुनिश्री प्रणम्यसागर जी महाराज

प्रकाशक
आचार्य अकलंकदेव जैनविद्या शोधालय समिति
उज्जैन (मध्यप्रदेश)

(परम्परानायक)

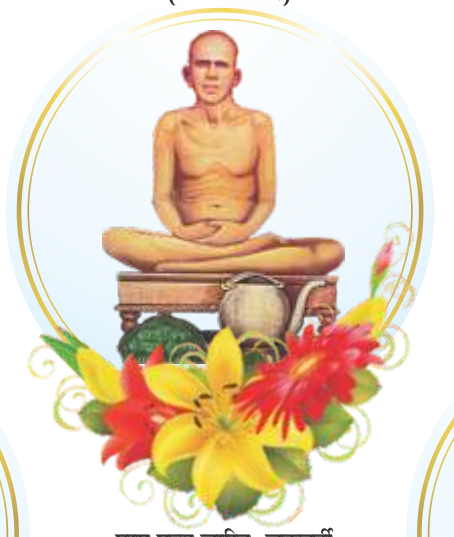

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

उपयोग-शतकम्

(अन्वयार्थ, अर्थ, विशेषार्थ एवं दोहानुवाद सहित)

रचयिता

मुनि प्रणम्यसागर

प्रकाशक

आचार्य अकलंकदेव जैनविद्या शोधालय समिति

उज्जैन (म.प्र.)

- ग्रन्थ : उपयोग-शतकम्
- आशीर्वाद : आचार्य श्री 108 विद्यासागरजी महाराज
- रचयिता : मुनि श्री 108 प्रणम्यसागरजी महाराज
- पुण्यार्जक : श्री राजकुमार जी जैन, विवेक जैन, प्रवीन जैन, नमो जैन, आदि जैन - रेवाड़ी
- संस्करण : प्रथम, रेवाड़ी चातुर्मास 2017
- आइएसबीएन : 978-81-934860-1-6
- आवृत्ति : 1100
- सहयोग राशि : 100/-
- प्राप्ति स्थान : आचार्य अकलंकदेव जैनविद्या शोधालय समिति
  109, शिवाजी पार्क देवास रोड़, उज्जैन,
  फोन: 2519071, 2518396
  email: sss.crop@yahoo.com

  आर्हत विद्याप्रकाशन
  गोटेगाँव, नरसिंहपुर (म.प्र.)
  मोबा.: 09425837476
- मुद्रक : आरसी प्रैस, 70ए, रामा रोड़ इंडस्ट्रियल एरिया,
  नई दिल्ली-110015
  # 9871196002

आत्म कथ्य

आत्मा का उपयोग स्वभाव है। उस उपयोग की शुद्धता और अशुद्धता का ज्ञान प्रत्येक भव्यजीव को होना चाहिए। उपयोग की शुद्धता के लिए जब कोई जीव प्रयास करता है तो उसके सामने कई प्रश्न, जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं। उन सब जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयास इस 'उपयोग-शतक' कृति में किया है। गृहस्थ श्रावक हो या श्रमण समुदाय सभी के लिए इस कृति के माध्यम से साधना का सोपान बढ़ेगा। वर्तमान में प्रचलित अनेक एकान्त मान्यताओं का निरसन भी इस कृति में किया है। व्यवहार नय की तात्कालिक उपादेयता, आदरणीयता कैसे होती है, यह कृति के अध्ययन से स्पष्ट होगा। इस कृति में अन्त में ध्यान, योग के लिए आवश्यक तथ्य और अनुभूति का भी वर्णन है। कौन पाठक क्या लाभ लेगा यह तो उसके ज्ञानावरण के क्षयोपशम पर निर्भर करेगा किन्तु मुझे इस कृति के लिए उपयोगी भाव अनायास आते चले गए और यह कृति कब पूर्ण हुई यह भी पता नहीं चला। जब इस कृति की पूर्णता हुई तो महसूस हुआ कि यह सब गुरुकृपा से ही संभव था। संस्कृत श्लोकों की रचना पूर्ण होकर रखी हुई थी। सभी के उपकारार्थ इन श्लोकों का हिन्दी अन्वयार्थ, अर्थ, विशेषार्थ एवं दोहानुवाद भी साथ में करके इस कृति को पूर्णता प्रदान की है। 'आदहिदं कादव्वं' अर्थात् आत्महित पहले करना चाहिए इसी प्रयोजन से प्रथम तो इससे मेरा ही हित हुआ है। अब यह हित और भव्यजनों का भी हो इस हेतु परहित की भावना भी जाग्रत हुई। यह कृति रेवाड़ी वर्षायोग 2017 में पूर्ण हुई। आचार्य गुरुदेव श्री विद्यासागर जी महाराज के कर कमलों में प्रस्तुत उन्हीं की ज्ञाननिधि।

मुनि प्रणम्यसागर
रेवाड़ी
वर्षायोग 17.10.2017
धन्यतेरस

विषय सूची

	पृष्ठ
आत्म कथ्य	iii
मंगलाचरण	1
उपयोग की परिभाषा एवं भेद	2
उपयोग के अन्य भेद	3
योग-उपयोग में सम्बन्ध	4
पंचम काल में सावधानी	5
अनेकान्त की भित्ति पर अध्यात्म का शिखर	6
चार सार्थक तथ्य	7
परीक्षा स्वयं की करें	8
निश्चय नय का विषय	9
दोनों नयों का प्रयोजन	10
संसार का कारण	11
स्वस्वभाव की भावना	12
लक्ष्य बनाकर प्रवृत्ति	13
निश्चय के ज्ञाता कौन?	14
कौन जिनदेशना के फल को प्राप्त नहीं करता है	15
कौन जिनदेशना के फल को प्राप्त कर लेता है	16
निश्चय नय भी दो प्रकार का है	17
ज्ञान से अनुभव कैसे होता है?	18
उपाय में अनादर दृष्टि नहीं होती है	19
उपाय में सादर दृष्टि की प्रेरणा	20
उपाय के दो भेद	21
ध्यान भी संश्लेष संबंध वाला है	22
श्रद्धान और अनुभव में गुणस्थान व्यवस्था	23

व्यवहार और निश्चयसम्यक्त्व 24
करणानुयोग से सम्यग्दर्शन 25
व्यवहार सम्यक्त्व की विशेषता 26
चरणानुयोग से सम्यक्त्व 27
सम्यग्दृष्टि की प्रसन्नता किसमें है? 28
सम्यग्दृष्टि की विभिन्न क्रियाएँ 29
सम्यग्दृष्टि क्या-क्या करता है? 30
सम्यग्दृष्टि के कार्य 31
सम्यग्दृष्टि के विरोधी कार्य 32
सम्यग्दृष्टि जीव उपचार से मोक्षमार्गी है 33
पंचपरमेष्ठी पूज्य हैं 34
मोक्षमार्ग रत्नत्रय है 35
व्यवहार नय पूज्य है 36
दिव्यदेशना व्यवहारनय से है 37
तीर्थ प्रवर्तन व्यवहार से है 38
तीर्थंकरों की देह भी पूज्य है 39
भगवान् ने व्यवहारनय का आलम्बन लिया 40
निश्चय का ज्ञान भी व्यवहारनय से है 41
निमित्त से उपादान की शुद्धि 42
क्रम से आचरण करने की प्रेरणा 43
लौकिक-अलौकिक व्यवहार 44
लौकिक व्यवहार छोड़कर अलौकिक व्यवहार करें 45
अलौकिक व्यवहार करणीय है 46
शुद्धात्मा की भावना करें 47
श्रेष्ठ साधना के लक्षण 48
असत् संकल्प से सत् संकल्प 49
मुनि की अलौकिकी वृत्ति 50
चित्तकल्पना किसकी समाप्त होती है 51

तत्त्व स्पर्श की विधि	52
आत्मानुभूति की विधि	53
गृहस्थ के लिए प्रेरणा	54
भेदविज्ञान के भेद	55
गृही शुद्धनय का आलंबन ले	56
मोही शुद्धनय नहीं जानता	57
शुद्धनय से सम्यक्त्व हमेशा नहीं	58
निश्चय सम्यक्त्व केवलज्ञान का कारण है	59
गृहस्थों में निश्चय सम्यक्त्व मानने पर दोष	60
निश्चय सम्यक्त्व होना साधु को कहा है	61
पारिणामिकी परिणति ध्यानगम्य	62
गृहस्थों में आत्मप्रत्यक्ष ध्यान नहीं	63
निश्चय सम्यग्दर्शन के दूसरे नाम	64
आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करें	65
परस्पर विपरीत आभास	66
रुचि के अनुसार आभास	67
जो चित्त में होगा वही मिलेगा	68
समता की परीक्षा	69
समता के बिना क्षमादि कहाँ	70
मानादि छोड़ने का साहस करो	71
शरीर की नग्नता पर्याप्त नहीं	72
भोगाकांक्षा को जीतने का अभ्यास	73
संसार सागर को तैरने वाला कौन?	74
पंचमकाल में भी धैर्यधारण करें	75
शुद्ध नय से सम्यग्दर्शन	76
शुद्धनय वाला सम्यक्त्व गृही में कैसे हो?	77
एकदेश शुद्ध सम्यक्त्व का आश्रय	78
शुद्धनय की भावना किसलिए है?	79
शुद्धनय की भावना गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए	80

व्यवहार सर्वथा हेय नहीं 81
अध्यात्म और आगम की विवक्षा 82
अध्यात्म और आगम विवक्षा में अन्तर 83
अध्यात्म और आगम से बंध-निर्जरा 84
अध्यात्म और आगम विवक्षा में उपादान-निमित्त 85
अध्यात्म और आगम विवक्षा 87
अध्यात्म और आगम विवक्षा में जिन संज्ञा 88
अध्यात्म और आगम विवक्षा में शुभोपयोग 89
अध्यात्म और आगम की विवक्षा में शुद्ध जीव 90
अध्यात्म और आगम में कर्म निमित्तता 91
अध्यात्म और आगम की विवक्षा में षट्कारिकी क्रिया 92
वर्तमान पर टिकना ध्यान है 93
शून्य बुद्धि में सद्विचार आते हैं 94
चिन्ता के बिना समय कौन सा 95
निर्विचार स्थिति में मनः शान्ति 96
योगी की परम अनुभूति 97
शुद्धोपयोगी योगी 98
ध्यानाभ्यास योग्यता से 99
भाग्यनिर्माता कौन 100
ध्यानाभ्यासी को लाभ 101
योगी में अनेक गुणों का वास 102
मुख्य-गौणव्यवस्था 103
कैवल्य प्राप्ति का उपाय 104
ग्रन्थ लिखने का कारण 105
गुरुकृपा की महिमा 106
स्थान एवं समय परिचय 107
मोक्षेच्छु का अकर्तृत्व 108
परिशिष्ट-1 - श्लोक पाठ 109
परिशिष्ट-2 - अकारादि क्रम से श्लोक सूची 118

उपयोग-शतकम्

मंगलाचरण

प्रणिपत्य महावीरं जिनं सर्वार्थदेशकम् ।
उपयोगस्य शुद्ध्यर्थमुपयोगोऽत्र चर्च्यते ॥1॥

दोहा-सर्व अर्थ देशक प्रभो महावीर जिन देव।
नमन करूँ उपयोग की चर्चा शुद्धिसमेत॥1॥

अन्वयार्थ–[सर्वार्थदेशकम्] समस्त पदार्थों के देशक [महावीरं] श्री महावीर [जिनं] जिनेन्द्र भगवान् को [प्रणिपत्य] नमस्कार करके [उपयोगस्य] उपयोग की [शुद्ध्यर्थं] शुद्धि के लिए [अत्र] यहाँ [उपयोगः] उपयोग की [चर्च्यते] चर्चा की जाती है।

अर्थ–उन श्री महावीर जिनदेव को प्रणाम करते हैं जो समस्त पदार्थों के उपदेशक हैं। उनको प्रणाम करके उपयोग की विशुद्धि के लिए उपयोग के विषय में यहाँ इस ग्रन्थ में चर्चा प्रारम्भ की जाती है।

विशेषार्थ–वह परिणाम जो सदा चेतना के साथ अनवरत विद्यमान रहता है उपयोग कहलाता है। उपयोग अर्थात् आत्मा का नित्य व्यापार, आत्मा में नित्य होने वाली क्रिया। यह उपयोग ही कर्म के प्रभाव से दूषित हो जाता है जिससे आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों का अनुभव नहीं कर पाता है। अपने उपयोग को कर्म पुद्गलों के प्रभाव से दूर करना और अपने स्वभावभूत उपयोग को उपलब्ध करना ही इस 'उपयोग शतक' ग्रन्थ का उद्देश्य है। आत्मा में जो भी राग, द्वेष, ईर्ष्या, मोह आदि भाव अनुभव में आते हैं वे कर्मकृत होते हैं। उनसे अपनी आत्मा को कैसे बचायें और आत्मा के उपयोग को सदा शुद्ध कैसे रख सकें? इसी तथ्य की यहाँ चर्चा की जाती है।

उपयोग की परिभाषा एवं भेद

आत्मनोऽर्थग्रही चेष्टा उपयोग स उच्यते ।
साकारेतरभेदाच्च द्वेधा हि व्यवतिष्ठते ॥2॥

दोहा- अर्थ ग्रहण चेष्टा कही उपयोगा वह नाम।
अनाकार साकार के भेद दोय यह ज्ञान॥2॥

अन्वयार्थ–[आत्मनः] आत्मा की [अर्थग्रही] अर्थ ग्रहण करने की [चेष्टा] चेष्टा [उपयोगः] उपयोग [उच्यते] कही जाती है [सः] वह [साकारेतरभेदाच्च] साकार और अनाकार के भेद से [द्वेधा] दो प्रकार [हि] निश्चय से [व्यवतिष्ठते] सिद्ध है।

अर्थ–आत्मा की पदार्थों को ग्रहण करने की चेष्टा या प्रवृत्ति उपयोग है। वह उपयोग साकार और अनाकर के भेद से दो प्रकार का ही प्रसिद्ध है।

विशेषार्थ–आत्मा में उपयोग की क्रिया के माध्यम से दो प्रकार की चेष्टा निरन्तर चलती है। एक तो देखने की और दूसरी जानने की। देखने की प्रवृत्ति अनाकार, बिना भेद के, बिना रूप, बिना आकृति के सामान्य रूप से होती है। जानने की प्रवृत्ति साकार, भेद के साथ, रूप, आकृति के विशेष ज्ञान के साथ होती है। आत्मा, चेतना, जीव, प्राणी, चैतन्य आदि सभी शब्द एकार्थवाचक हैं। किसी भी स्थिति में आत्मा हो वह जानने-देखने की क्रिया (व्यापार) कभी रुकती नहीं है। यही ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के नाम से जाना जाता है। ज्ञानोपयोग से किसी भी पदार्थ को विशेषता के साथ जाना जाता है तथा दर्शनोपयोग से उसी पदार्थ को सामान्य रूप से देखा जाता है। संसारी जीवों में पहले दर्शनोपयोग फिर ज्ञानोपयोग होता है। यह क्रम निरन्तर अन्तर्मुहूर्त काल के साथ परिवर्तित होकर चलता रहता है।

उपयोग के अन्य भेद

शुभाशुभं तथा शुद्धं मतमुपयोगचेष्टितम् ।
रागभावैर्द्वयं चाद्यं रागाऽभावेऽन्तिमं विदुः ॥3॥

दोहा-शुद्ध शुभाशुभ भाव से त्रय विध है उपयोग।
है अशुद्ध वो राग से, शुद्ध राग बिन योग॥3॥

अन्वयार्थ–[उपयोगचेष्टितम्] उपयोग की चेष्टा [शुभाशुभं] शुभ, अशुभ [तथा] तथा [शुद्धं] शुद्ध [मतम्] मानी गयी हैं [रागभावैः] राग भावों के साथ [आद्यं] प्रारम्भ के [द्वयं] दोनों उपयोग [च] और [रागाऽभावे] राग के अभाव में [अन्तिमं] अन्तिम उपयोग [विदुः] कहा है।

अर्थ–उपयोग की प्रवृत्ति शुभ, अशुभ तथा शुद्ध मानी गई है। अर्थात् शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये तीन उपयोग हैं। इनमें से पहले के दो उपयोग अर्थात् अशुभोपयोग और शुभोपयोग राग भाव के साथ रहते हैं और अन्तिम शुद्धोपयोग राग भाव के अभाव में होता है, ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है।

विशेषार्थ–कर्म कृत भावों से जब वही उपयोग प्रभावित होता है तो वह तीन प्रकार से समझा जा सकता है। एक अशुभोपयोग, दूसरा शुभोपयोग तथा तृतीय शुद्धोपयोग। पहले दो उपयोगों के साथ राग की उपस्थिति रहती है किन्तु तीसरा उपयोग राग से, मोह से रहित पूर्ण शुद्ध होता है अतः वह शुद्धोपयोग कहलाता है। अशुभोपयोग और शुभोपयोग में राग तो है किन्तु घटते क्रम में है। अशुभोपयोग में अपने शरीर और सांसारिक विषय में आसक्ति बढ़ाने वाला राग होता है किन्तु शुभोपयोग में सच्चे भगवान, सच्चे गुरु के प्रति और समीचीन ज्ञान के प्रति अनुराग होता है।

योग-उपयोग में सम्बन्ध

सम्यक्त्वेन शुभो भावो शुभशुद्धोपयोगयौ ।
मिथ्यात्वेनाशुभश्चापि शुभोऽशुभोपयोगता ॥4॥

दोहा- भाव शुभं उपयोग द्वय सम्यग्दर्शन साथ।
भाव शुभाशुभ अशुभ इक मिथ्यादर्शन साथ॥4॥

अन्वयार्थ–[सम्यक्त्वेन] सम्यक्त्व के साथ [शुभः भावः] शुभभाव होता है [शुभशुद्धोपयोगयौ] शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनों होते हैं। [मिथ्यात्वेन] मिथ्यात्व के साथ [अशुभः] अशुभ भाव होता है [शुभः] शुभ भाव [चापि] भी [अशुभोपयोगता] तथा अशुभ उपयोगपना होता है।

अर्थ–सम्यग्दर्शन के साथ शुभभाव होता है शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग होते हैं। मिथ्यात्व के साथ भी अशुभ भाव तथा शुभ भाव होते हैं किन्तु अशुभोपयोग ही होता है।

विशेषार्थ–जब जीव की दृष्टि जीव तत्त्व और पुद्गल तत्त्व की सही पहचान कर लेती है तो उसकी दृष्टि समीचीन हो जाती है। उस समीचीन दृष्टि को ही सम्यग्दर्शन कहा है। सम्यग्दर्शन के साथ ही वस्तुतः उपयोग शुभोपयोग होता है। ऐसे आत्मा का उपयोग जब बाहरी शुभ द्रव्यों में लगता है तो शुभोपयोग होता है। जब उपयोग अपने शुद्ध आत्म तत्त्व मात्र में लगता है तो शुद्धोपयोग होता है। भाव तो सम्यग्दृष्टि के भी अशुभ हो सकते हैं। मन, वचन, काय की परिणति शुभ रूप हो तो शुभ भाव होते हैं और अशुभ हों तो अशुभ भाव होते हैं। मिथ्यादृष्टि अर्थात् असमीचीन दृष्टि वाले जीव की मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं। ऐसे जीव का उपयोग तो सदा अशुभ ही होता है क्योंकि वह अन्तरंग से कषाय और विपरीत भाव छोड़ नहीं पाता है।

पंचम काल में सावधानी

अस्मिन् काले हितार्थं नो वर्ततेऽतीवभुक्तिता ।
नितान्ताध्यात्म-मेकान्ते पातयति न विज्ञता ॥5॥

दोहा- अति भुक्ति में अहित ज्यों छिपा काल का दोष।
अति अध्यातम अहित त्यों मिथ्यामत का कोष॥5॥

अन्वयार्थ–[अस्मिन् काले] इस काल में [अतीवभुक्तिता] ज्यादा खाना [हितार्थं] हित के लिए [नो वर्तते] नहीं है, इसी तरह [नितान्ताध्यात्मं] अत्यधिक अध्यात्म [एकान्ते] एकान्त में [पातयति] गिरा देता है [न विज्ञता] यह विज्ञता नहीं है।

अर्थ–जिस तरह ज्यादा भोजन अजीर्ण का कारण होता है। इस पंचम काल में मनुष्यों के लिए अधिक भोजन हितकर नहीं है उसी तरह अत्यधिक अध्यात्म में वर्तना नितान्त एकान्त धारणा में गिरा देता है, यह बुद्धिमानी नहीं है।

विशेषार्थ–प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक ज्ञान होना चाहिए। अध्यात्म की रुचि को बढ़ाना चाहिए। सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि एकान्त रूप से अत्यधिक अध्यात्म धारणा में प्रवर्तन करने वाला जीव अपनी हानि कर सकता है। कारण स्पष्ट है कि एक तो जिसके पास संयम और चारित्र नहीं है वह बाह्य क्रियाओं को महत्त्वहीन समझकर प्रमादी होकर भ्रष्ट होगा। दूसरा जिसके पास संयम है तो वह अन्तरंग में संहनन के अभाव से उस अध्यात्म में लीन नहीं हो पाएगा। बुद्धिमान व्यक्ति अपने परिणामों को ध्यान में रखते हुए आध्यात्मिक रुचि बढ़ाता है। आध्यात्मिक व्यक्ति अभिमानी, रूखा नहीं होता है। वह सहज और निश्छल व्यक्तित्व का धनी हो जाता है। इसलिए अध्यात्म को उतना ही ग्रहण करना चाहिए जिससे अपने अंदर अहंकार न बढ़े तथा अन्य जीव हीन, क्षुद्र न दिखाई दें। यदि ऐसा हो तो समझना कि अधिक भोजन की तरह अध्यात्म भी अब हानि का कारण बन रहा है।

अनेकान्त की भित्ति पर अध्यात्म का शिखर

अनेकान्ते चतुर्भित्तौ स्थितानुयोगचतुष्कता ।
प्रासादस्योपरिष्टाद्धि शोभतेऽध्यात्मसानुता ॥6॥

दोहा- अनेकान्त की भित्ति पर अनुयोगा चौपाय।
अध्यातम का शिखर है आत्म महल सुखदाय॥6॥

अन्वयार्थ–[चतुर्भित्तौ] चार दीवालों पर [स्थितानुयोगचतुष्कता] चार अनुयोग की स्थिति [अनेकान्ते] अनेकान्त दर्शन में है [प्रासादस्य] महल के [उपरिष्टात् हि] ऊपर ही [अध्यात्मसानुता] अध्यात्म का शिखर [शोभते] शोभा देता है।

अर्थ–अनेकान्त दर्शन में चार अनुयोगों की स्थिति चार दीवालों पर है। इन चार दीवालों पर ही आत्म विकास का महल खड़ा होता है। उस महल के ऊपर ही अध्यात्म ज्ञान चोटी की तरह सुशोभित होता है।

विशेषार्थ–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोग कहे हैं। इनमें क्रमशः पुराण पुरुषों का चरित्र, लोक-अलोक की व्यवस्था, आचरण की पद्धति और सिद्धान्त, न्याय का वर्णन किया जाता है। जो मूल में होता है वही चूल पर होता है। आध्यात्मिक दृष्टि इन चारों अनुयोगों में समाहित है और इस तरह जब किसी जीवात्मा का विकास होता है तो वह अपना चतर्मुखी विकास करता हुआ पूर्ण हो जाता है। फिर वही विकास चूल पर चूलिका के रूप में दिखाई देता है। पूर्णतया ध्यान में लीन, उत्कृष्ट ध्यान समाधि की अवस्था अच्छी तरह सुदृढ़-व्यवस्थित बने हुए महल की चोटी की तरह शोभित होती है।

चार सार्थक तथ्य

क्षीयमाणस्य देहस्य मात्रमेतद्धि सार्थकम् ।
श्रुताभ्यासो व्रतं ध्यानं राग-द्वेष विवर्जनम् ॥7॥

दोहा- प्रतिक्षण घटती देह में सार्थक बातें चार।
श्रुत पढ़ना व्रत ध्यान औ राग-द्वेष परिहार॥7॥

अन्वयार्थ-[क्षीयमाणस्य देहस्य] नष्ट होते हुए शरीर के लिए [मात्रं] मात्र [एतत् हि] इतना ही [सार्थकं] सार्थक है कि [श्रुताभ्यासः] श्रुत का अभ्यास हो [व्रतं] व्रत हों [ध्यानं] ध्यान हो [रागद्वेषविवर्जनम्] राग-द्वेष का वर्जन हो।

अर्थ-यह शरीर प्रति समय क्षीण हो रहा है। इस शरीर की सार्थकता मात्र इतनी ही है कि श्रुत का अभ्यास हो, व्रत का पालन हो, ध्यान हो और राग, द्वेष से रहित रहो।

विशेषार्थ-हे भव्यात्मन्! आध्यात्मिक विकास की यात्रा के ये चार सोपान हैं। निरन्तर श्रुत का अभ्यास हो, व्रत-संयम-सदाचार का पालन हो, आत्मध्यान में प्रवृत्ति हो तथा राग, द्वेष से रहित जीवन बने। गुरु मुख से जो सुना जाए वह श्रुत है। जो सुना है उसी का स्मरण करो, चिन्तन करो, उसी का मनन करो। अपना मन सकारात्मक भावों से भरा रहे इसलिए सदाचार का पालन करो। बिना सदाचार के आत्म शान्ति, समता, ध्यान असंभव है। स्वस्थ आत्मा की भावना करने से, आत्मा का ध्यान करने से ही राग-द्वेष के प्राचीन संस्कार छूटते हैं। श्रुत से अच्छी तरह स्व-पर का अध्ययन करके जो भव्य जीव इस विधि से आगे बढ़ता है वह इष्ट-मोक्ष सुख को अवश्य प्राप्त कर लेता है।

परीक्षा स्वयं की करें

भोजने शयने चैव संपरीक्ष्य मुमुक्षुभिः ।
निजभावोत्थसङ्कल्पात् निजं चित्तं च शुध्यते ॥8॥

दोहा- भोजन में औ शयन में कर तू नित्य विचार।
भावों के संकल्प से चित्त शुद्धि को धार॥8॥

अन्वयार्थ–[मुमुक्षुभिः] मुमुक्षुओं के द्वारा [भोजने] भोजन [शयने चैव] और शयन में [निजभावोत्थसङ्कल्पात्] अपने भावों में उत्पन्न हुए संकल्प से [निजं चित्तं] अपना चित्त [शुध्यते] शुद्ध किया जाता है।

अर्थ–जो मुमुक्षु जन हैं वे अपने चित्त को भोजन और शयन के समय पर अपनी आत्मा में उत्पन्न भावों के संकल्प के माध्यम से परीक्षा करके शुद्ध करते हैं।

विशेषार्थ–मुमुक्ष जनों के लिए अन्य बाहरी पदार्थों में मैं और मेरेपन का कोई आग्रह नहीं रहता है। अपनी अन्तरंग परिणति में राग, द्वेष, मोह आदि का भाव शरीर की स्पृहता से ही होता है। उस शरीर के लिए जो भोजन आदि दिया जाता है उसी से अपने भावों का निरीक्षण करना चाहिए। जो भोजन आदि से सुखी होगा और आनन्दित होगा वह आत्मध्यान के प्रति जागरुक नहीं होगा जिससे निद्रा आदि सुख के कार्यों से अपना जीवन गुजारेगा। योगी का भोजन और निद्रा पर नियन्त्रण होता है।

निश्चय नय का विषय

निश्चयेन नयेन यः पदार्थं वेत्ति मूलतः ।
द्रव्यस्य दशां शुद्धा-मसंयुक्तां तथाऽन्यतः ॥9॥

दोहा- निश्चय नय से द्रव्य की शुद्ध दशा का ज्ञान।
नय व्यवहारी तो कहे संयोगी यह जान॥9॥

अन्वयार्थ–[निश्चयेन नयेन] निश्चय नय से [यः] जो [पदार्थं] पदार्थ को [मूलतः] मूल रूप से [वेत्ति] जानता है वह [द्रव्यस्य] द्रव्य की [शुद्धां] शुद्ध और [असंयुक्तां] असंयुक्त [दशां] दशा को जानता है [तथा] तथा [अन्यतः] अन्य से अन्य रूप जानता है।

अर्थ–निश्चय नय के द्वारा किसी पदार्थ को मूल रूप से जो जानता है वह उस द्रव्य/पदार्थ की शुद्ध और पर से असंयोगी दशा को जानता है तथा दूसरे व्यवहार नय से पदार्थ की अशुद्ध और संयोगी दशा को जानता है।

विशेषार्थ–श्रुतज्ञान के द्वारा प्रत्येक पदार्थ का, प्रत्येक तत्त्व का व्यवहार-निश्चय दोनों नयों से अच्छी तरह स्वरूप जानना चाहिए। श्रुतज्ञान में ही व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों का प्ररूपण है। यह नय एक दृष्टिकोण है जो संयोगी पदार्थ के दोनों पहलुओं का ज्ञान कराते हैं। निश्चय नय किसी पदार्थ के मूलभूत, स्वाभाविक गुणों का ज्ञान कराता है। व्यवहारनय उस पदार्थ में अन्य पदार्थ निमित्तिक क्या-क्या हो सकता है? इस तथ्य का ज्ञान कराता है। आत्मा अनादि से कर्म के साथ है इसलिए संयोग दशा को प्राप्त है इसलिए ही अशुद्ध है। इस अशुद्धता का भी यथार्थ ज्ञान गुणस्थान, मार्गणाओं के द्वारा व्यवहार नय कराता है। संयोग दशा के बिना शुद्ध आत्मा का स्वभाव कैसा होता है? इस तथ्य का ज्ञान निश्चय नय से होता है।

दोनों नयों का प्रयोजन

जीवास्त्वनादिमिथ्यात्वाद् देहमात्मैव मन्वते ।
देहेऽस्मिन्नात्मबुद्धिस्तु नयद्वयैश्च हन्यते ॥10॥

दोहा-जीव देह की मानता मिथ्या नय के साथ।
जीव देह की भिन्नता दोनों नय के साथ॥10॥

अन्वयार्थ–[जीवाः] जीव [तु] तो [अनादिमिथ्यात्वात्] अनादि मिथ्यात्व के कारण [देहं] देह को [आत्मा एव] आत्मा ही [मन्वते] मानते हैं [अस्मिन् देहे] इस देह में [आत्मबुद्धिः] आत्म बुद्धि [तु] तो [नयद्वयैः] दोनों नयों से [हन्यते च] नष्ट की जाती है।

अर्थ–अनादिमिथ्यात्व के कारण सभी जीव देह को ही आत्मा मानते हैं। इस देह में लगी यह आत्म बुद्धि दोनों नयों से आत्मा को जानकर ही नष्ट होती है।

विशेषार्थ–यदि कोई व्यवहार नय से आत्मा को सही ढंग से नहीं जानेगा तो इस आत्मा को शरीर प्राप्त करने का कारण क्या है? आत्मा में इतना ही ज्ञान क्यों है? चारित्र कैसे प्राप्त किया जाय? भावों की विशुद्धि के लिए कषायों की कमी कैसे हो? क्या कोई भगवान या ब्रह्मा है जिसने मुझे इस संसार में भेजा है? क्या कोई भगवान है जिसने मुझे यह शरीर दिया है इत्यादि अनेक बातों का ज्ञान व्यवहार नय से आत्मा और देह को सही ढंग से जानने से होता है। आत्मा और देह का सही स्वरूप जानकर जब उसी तरह सावधानी के साथ मन को निश्चल करके शरीर और आत्मा इन दोनों को भिन्न-भिन्न साक्षी भाव से अनुभूत किया जाता है तो इस भेदविज्ञान से ही मोह का नाश होता है। देह में आत्म बुद्धि नष्ट होती है। देह से आत्म बुद्धि का नाश जैसे निश्चय नय से होता है वैसे ही एकेन्द्रिय आदि जीवों का समूह व्यवहार नय से देखने पर भी होता है।

संसार का कारण

जीवेन न कदा ज्ञात आत्मा द्रव्यकर्मतः ।
अशुद्धः शुद्ध एकान्ताद् विज्ञातस्तेन संसृतिः ॥11॥

दोहा-द्रव्य-कर्म से जीव ने आतम का विज्ञान।
कभी किया ना इसलिए संसृति की है खान॥11॥

अन्वयार्थ–[जीवेन] जीव के द्वारा [आत्मा] यह आत्मा [द्रव्यकर्मतः] द्रव्य और कर्म की अपेक्षा से [कदा] कभी [न ज्ञातः] ज्ञात नहीं हुआ है [एकान्तात्] एकान्त से [अशुद्धः] अशुद्ध [शुद्धः] या शुद्ध [विज्ञातः] जाना है [तेन] इसी कारण से [संसृतिः] संसार है।

अर्थ–इस जीवात्मा के द्वारा यह आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से और कर्म की अपेक्षा से कभी जानने में नहीं आया है किन्तु एकान्त से शुद्ध या अशुद्ध ही जानने में आया है। इसी एकान्त मान्यता के कारण संसार बना हुआ है।

विशेषार्थ–आत्मद्रव्य का वास्तविक ज्ञान निश्चयनय से होता है। इस आत्मा की भिन्न-भिन्न विचित्र दशाएँ कर्म के कारण से हैं। किसी परमात्मा या भगवान के कारण नहीं हैं। जब तक कर्म की अपेक्षा से आत्मा की भिन्न-भिन्न दशाओं का व्यवहारनय से सही-सही श्रद्धान-ज्ञान नहीं होता है तब तक कर्म के विनाश का भी सही-सही उपाय भी नहीं बनता है। एकान्त से आत्मा को शुद्ध ही जानेगा तो भी उस आत्मा की शुद्धि की प्राप्ति का उपाय नहीं कर पाएगा। और जो एकान्त से आत्मा को अशुद्ध ही जानेगा वह शुद्ध आत्मा का ध्यान ही नहीं कर पाएगा। इसलिए एकान्त मान्यता संसार का कारण है।

स्वस्वभाव की भावना

ततो ज्ञानेन निर्णीय श्रद्धाय परिभावयेत् ।
निजात्मनः स्वभावं तु कर्म-नोकर्मवर्जितम् ॥12॥

दोहा- निर्णय कर श्रद्धा करो और ज्ञान से भाव।
कर्म और नोकर्म बिन भाओ नित्य स्वभाव॥12॥

अन्वयार्थ–[ततः] इसलिए [ज्ञानेन] ज्ञान से [निर्णीय] निर्णीत करके [श्रद्धाय] और उसकी श्रद्धा करके [निजात्मनः] निजात्मा के [स्वभावं] स्वभाव की [तु] निश्चय से [कर्म-नोकर्म वर्जितम्] कर्म, नोकर्म से रहित [परिभावयेत्] भावना करें।

अर्थ–इसलिए सम्यग्ज्ञान से या दोनों नयों के ज्ञान से आत्म वस्तु का निर्णय करके उसकी श्रद्धा करना। फिर उस आत्मा की श्रद्धा करके कर्म-नोकर्म से रहित अपनी आत्मा के स्वभाव की निश्चय से भावना करनी चाहिए।

विशेषार्थ–'उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के' **आचार्य अमृतचन्द्र जी** के इस वाक्य के अनुसार दोनों नयों के बीच विरोध का नाश करने वाले इस स्यात् पद के साथ जो आत्मा और शरीर की संयोगज दशा का ज्ञान करता है वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान से अपनी आत्म तत्त्व की श्रद्धा को बार-बार दृढ़ करना। निश्चय से आत्म तत्त्व की भावना सुखपूर्वक की जाती है तो उसका कोई संस्कार आत्मा पर नहीं पड़ता है। इसीलिए व्रत, नियम, संयम के साथ जब आत्मा की भावना की जाती है तो उससे दुःख का नाश होता है। लौकिकजन व्रत, नियम आदि को दुःख का कारण कहकर इस कष्ट से बचते हैं। किन्तु वास्तव में ये व्रतादि स्वाश्रित होकर करने से आनन्द देते हैं और उसी आनन्द से आत्म रमण में आनन्द आता है।

लक्ष्य बनाकर प्रवृत्ति

निश्चयेनात्मरूपं तु लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तयेत् ।
दृग्ज्ञानवृत्तमार्गेऽस्मिन् निश्चयव्यवहारके ॥13॥

दोहा- दर्शन ज्ञान चरित्र मय मोक्षमार्ग द्वय रूप।
निश्चय के दृढ़ लक्ष्य से कर चर्या प्रारूप॥13॥

अन्वयार्थ-[निश्चयव्यवहारके] निश्चय और व्यवहार रूप [अस्मिन्] इस [दृग्ज्ञानवृत्तमार्गे] दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मार्ग में [निश्चयेन] निश्चय से [आत्मरूपं] आत्म रूप को [तु] ही [लक्ष्यीकृत्य] लक्ष्य बना करके [प्रवर्तयेत्] प्रवृत्ति करनी चाहिए।

अर्थ-मोक्षमार्ग दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है। यह मोक्ष मार्ग निश्चय और व्यवहार दोनों रूप है। इस मोक्ष मार्ग में अपने आत्म स्वरूप को निश्चय से लक्ष्य बनाकर प्रवृत्ति करनी चाहिए।

विशेषार्थ-साधक चाहे व्यवहार मोक्षमार्ग रूप आचरण करे या निश्चय मोक्ष मार्ग रूप किन्तु उसका लक्ष्य तो निश्चय नय से जाने गए आत्म स्वरूप की प्राप्ति करने का ही रहता है। निश्चय मोक्ष मार्ग में तो आत्मा की मुख्यता से ही प्रवर्तन होता है किन्तु व्यवहार मोक्षमार्ग में भी वह आत्मा को लक्ष्य करके ही सभी प्रवृत्तियाँ करता है। यह इस श्लोक में कहा है।

निश्चय के ज्ञाता कौन?

निश्चयं नयमेवं तु विज्ञाय स्वानुभूतये ।
यतन्ते व्यवहारेऽपि निश्चयज्ञास्तु ते मताः ॥14॥

दोहा- निश्चय नय को जान के स्वानुभूति का यत्न।
निश्चय का ज्ञाता करे सव्यवहार प्रयत्न॥14॥

अन्वयार्थ–[एवं] इस प्रकार से [तु] ही [निश्चयं नयं] निश्चय नय को [विज्ञाय] जानकर [स्वानुभूतये] स्वानुभूति के लिए जो [व्यवहारे अपि] व्यवहार में भी [यतन्ते] यत्न पूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। [ते] वह [तु] वास्तव में [निश्चयज्ञाः] निश्चयनय को जानने वाले [मताः] माने गए हैं।

अर्थ–पूर्वोक्त प्रकार से ही निश्चयनय को जानकर जो स्वानुभूति के लिए व्यवहार में भी प्रयत्न करते हैं वे निश्चय से निश्चयज्ञ कहे गए हैं।

विशेषार्थ–जो एकान्त से मात्र निश्चयनय को ही जानते हैं अर्थात् निश्चयनय से आत्मा ध्रुव, ज्ञायक स्वभावी एक, शुद्ध, बुद्ध है मात्र इतना ही जानते हैं वे निश्चय के ज्ञाता नहीं है किन्तु निश्चय और व्यवहार से आत्म स्वरूप को जानकर स्वानुभूति का लक्ष्य बनाकर व्यवहार में भी प्रवृत्ति करते हैं वे वस्तुतः निश्चय के सही ज्ञाता हैं। स्वानुभूति के लिए व्यवहार में प्रयत्न करना विरुद्ध बात नहीं है। कारण कि आवश्यक विहार, निहार, निद्रा आदि उसी स्वानुभूति की वृद्धि के लिए होती है।

कौन जिनदेशना के फल को प्राप्त नहीं करता है

निश्चयं खलु ज्ञात्वा ये व्यवहारात् पराङ्मुखाः ।
ते कदा प्राप्नुवन्ति न जिनस्य देशनाफलम् ॥15॥

दोहा- निश्चय नय को जान के दूर किया व्यवहार।
उनको कैसे प्राप्त हो जिनवाणी का सार॥15॥

अन्वयार्थ–[ये] जो [निश्चयं] निश्चय को [खलु] निश्चय से [ज्ञात्वा] जानकर [व्यवहारात्] व्यवहार से [पराङ्मुखाः] विमुख हो जाते हैं [ते]वे [कदा] कभी [जिनस्य] जिनदेव की [देशनाफलम्] देशना के फल को [प्राप्नुवन्ति न] नहीं प्राप्त करते हैं।

अर्थ–जो निश्चय को ही मात्र जानकर व्यवहार से विमुख हो जाते हैं वे कभी भी जिन-देशना के फल को प्राप्त नहीं होते हैं।

विशेषार्थ–निश्चय से आत्मा क्या है? जो मात्र इसका ज्ञान कर लेते हैं और व्यवहार से होने वाली क्रियाओं से विमुख हो जाते हैं वे कभी भी जिनेन्द्र भगवान की देशना के फल को प्राप्त नहीं करते हैं। यहाँ व्यवहार से तात्पर्य व्यवहार मोक्षमार्ग है जिसमें मूलगुणों का पालन आदि किया जाता है।

कौन जिनदेशना के फल को प्राप्त कर लेता है

निश्चयं खलु ज्ञात्वा ये व्यवहारात् पराङ्मुखाः ।
ते सदा प्राप्नुवन्ति हि जिनस्य देशनाफलम् ॥16॥

दोहा- निश्चय नय को जान के दूर किया व्यवहार।
उनको ही बस प्राप्त हो जिनवाणी का सार॥16॥

अन्वयार्थ–[ये] जो [निश्चयं] निश्चय को [खलु] निश्चय से [ज्ञात्वा] जानकर [व्यवहारात्] व्यवहार से [पराङ्मुखाः] विमुख हो जाते हैं [ते] वे [सदा] सदा [हि] वास्तव में [जिनस्य] जिनदेव की [देशना फलम्] देशना फल को [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त करते हैं।

अर्थ–जो निश्चय को निश्चय से जानकर व्यवहार से दूर हो जाते हैं वे वास्तव में निश्चयनय के विषयभूत वस्तु में लीन होकर जिनदेव की देशना फल को प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ–जो साधक व्यवहार नय की क्रिया को करके फिर उसे भी छोड़कर निश्चय नय के विषयभूत शुद्धात्मा में लीन हो जाते हैं वे शीघ्र ही शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त होते हैं। वे ही जीव केवलज्ञान को प्राप्त करके जिन देशना के फल को प्राप्त करते हैं। जैसे-जैसे साधक व्यवहार नय विषयक व्रत, नियम आदि की साधना से अपनी आत्मा को साधते-साधते उसमें लीन होने लगता है वैसे-वैसे वह स्व में स्थित होता जाता है। व्यवहार के विषय में उसकी रुचि उसी अनुपात से कम होने लगती है। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि इस पंचमकाल में उत्कृष्ट संहनन आदि के अभाव में कोई भी साधक आत्मा में इतना लीन नहीं हो सकता है कि उसके लिए अन्य कोई प्रतिक्रमण आदि आवश्यक व्यवहार से करने की आवश्यकता न रहे। इसके विपरीत जिसकी आत्मरुचि बढ़ती है वह व्यवहार विषयक प्रतिक्रमण, वन्दना आदि में और अधिक शुद्ध भावों से उपादेय बुद्धि से प्रवृत्ति करता है। यह श्लोक बहुत कुछ पूर्व श्लोक की तरह ही है किन्तु अर्थ भिन्न है।

निश्चय नय भी दो प्रकार का है

निश्चयोऽपि मतो द्वेधा ज्ञानादनुभवात्मकात् ।
ज्ञानं ह्यनुभवो येषां तेषां बुद्धौ कदाग्रहः ॥17॥

दोहा- निश्चय के द्वय भेद हैं इक अनुभव इक ज्ञान।
ज्ञान अरु अनुभव एक है मानें वे नादान॥17॥

अन्वयार्थ–[ज्ञानादनुभवात्मकात्] ज्ञान से और अनुभव की अपेक्षा से [निश्चयः]निश्चय नय [अपि]भी [द्वेधा]दो प्रकार का [मतः]माना गया है[येषां] जिनके लिए[ज्ञानं]ज्ञान ही[अनुभवः]अनुभव है[तेषां]उनकी[बुद्धौ]बुद्धि में कदाग्रह है।

अर्थ–ज्ञान की अपेक्षा से और अनुभव की अपेक्षा से निश्चय नय भी दो प्रकार का माना गया है। जिनके लिए निश्चय के ज्ञान और अनुभव में कोई अन्तर नहीं है। उनकी बुद्धि में कदाग्रह है।

विशेषार्थ–निश्चय नय से आत्मा आदि वस्तु को जानना और निश्चय नय की विषयभूत उस आत्मा का उसी रूप में अनुभव होना ये दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं उन्हें एक ही मानना बहुत बड़ा हठाग्रह है।

हे भव्यात्मन्! निश्चय नय से आत्मा शुद्ध, अस्पृष्ट, नित्य आदि रूप है, यह ज्ञान, श्रद्धान होते-होते चतुर्थ गुणस्थान हो सकता है किन्तु उस तरह से आत्मा की प्रतीति अनुभव में आना तभी संभव है जब उस आत्मा की अनुभूति के लिए आवश्यक परिकर (सामग्री) से आत्मा स्वयं को साधता चला जाए। श्रद्धान, ज्ञान तो किसी के उपदेश से, शास्त्र स्वाध्याय से हो सकता है किन्तु अनुभूति तो स्वयं के पुरुषार्थ और प्रयास से ही होती है।

ज्ञान से अनुभव कैसे होता है?

ज्ञानेन ज्ञायते यत्त-दुपायेनानुभूयते ।
यथा दुग्धे घृतज्ञानं घृताप्तावनुभूयते ॥18॥

दोहा-जाना जिसको ज्ञान से कर उपाय अनुभूत।
घी रहता है दूध में घी पाते अनुभूति॥18॥

अन्वयार्थ–[ज्ञानेन] ज्ञान के द्वारा [यत्] जो [ज्ञायते]जाना जाता है [तद्] वह [उपायेन] उपाय के द्वारा [अनुभूयते] अनुभव में आता है [यथा] जैसे [दुग्धे] दूध में [घृतज्ञानं] घृत का ज्ञान हुआ वह [घृताप्तौ] घृत की प्राप्ति होने पर [अनुभूयते] अनुभूत होता है।

अर्थ–ज्ञान के द्वारा जो जाना जाता है उसी की अनुभूति उस पदार्थ का उपाय करने के द्वारा होती है जैसे दूध में घी है यह ज्ञान हो जाना घी का ज्ञान है। उसी दूध को विभिन्न उपायों के द्वारा घृत की प्राप्ति होने पर अनुभूत किया जाता है।

विशेषार्थ–जो कार्य रूप में ढलता है वह **उपादान** कहलाता है। जो उसके लिए सहयोगी कारण बनता है वह **निमित्त** है। दूध से घी बनता है तो दूध उपादान कारण है। उसके लिए बर्तन, चम्मच, अग्नि आदि और बनाने वाले का व्यापार आदि निमित्त कारण हैं। इसी तरह भव्य आत्मा उपादान शक्ति रूप है उसकी शक्ति प्रकट होने के लिए व्रत, संयम, तप आदि निमित्त कारण हैं। यहाँ तक कि उसका शरीर भी निमित्त कारण है।

उपाय में अनादर दृष्टि नहीं होती है

उपायेऽनादरा दृष्टि-रुपादेये सदादरः ।
आप्नुवन्ति कथं मूढाः सानुं श्रेण्या विना गिरेः ॥19॥

दोहा- आदर नहीं उपाय में उपादेय सम्मान।
सीढ़ी बिन क्या चढ़ सकें चोटी पर नादान॥19॥

अन्वयार्थ–[उपाये] उपाय में [अनादरा दृष्टिः] अनादर दृष्टि होना [उपादेये] उपादेय में [सदा] सदा [आदरः] आदर होना, ऐसे मूढ़ जीव [श्रेण्याः विना] सीढ़ी के बिना [गिरेः] पर्वत की [सानुं] चोटी [कथं] कैसे [आप्नुवन्ति] प्राप्त कर सकेंगे?

अर्थ–जो लोग उपादेय यानि ग्रहण योग्य पदार्थ में आदर दृष्टि रखते हैं किन्तु उपादेय की प्राप्ति जिससे होती है ऐसे उपाय के विषय में अनादर दृष्टि रखते हैं वे मूढ़ हैं। ऐसे मूढ़ जीव मानो बिना सीढ़ी के या बिना मार्ग के पर्वत के शिखर पर पहुँचना चाहते हैं।

विशेषार्थ–सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र दो प्रकार का कहा है एक व्यवहार रूप और एक निश्चय रूप। इसमें व्यवहार रूप मोक्षमार्ग उपाय है और निश्चय रूप मोक्षमार्ग उपादेय है

उपादेय को चाहने वाला यदि उपाय को हेय समझेगा तो उपादेय की प्राप्ति नहीं होगी। उपाय से उपादेय की प्राप्ति नहीं होगी। उपाय से उपादेय की प्राप्ति हो जाने पर उपाय स्वयं हेय हो जाता है। जैसे सीढ़ी से या मार्ग से पर्वत के शिखर पर पहुँचकर सीढ़ी से कोई चिपका तो नहीं रहता है किन्तु वह अपने आप छट जाती है।

उपाय में सादर दृष्टि की प्रेरणा

तत्त्वं सुविज्ञ! श्रद्धाय विज्ञाय शुद्धदृष्टितः ।
स्वस्वभावाप्त्युपाये त्वं दृष्टिं कुरु समादरात् ॥20॥

दोहा-शुद्धि दृष्टि से तत्त्व का श्रद्धा कर तू जान।
निज स्वभाव की प्राप्ति के हेतू का सम्मान॥20॥

अन्वयार्थ–[सुविज्ञ!] हे सुविज्ञ! [शुद्धदृष्टितः] शुद्ध दृष्टिसे [तत्त्वं] तत्त्व का [श्रद्धाय] श्रद्धान करके [विज्ञाय] और जानकर के [स्वस्वभावाप्त्युपाये] स्व स्वभाव की प्राप्ति के उपाय में [त्वं] तुम [समादरात्] अच्छे आदर भाव से [दृष्टिं] दृष्टि [कुरु] करो।

अर्थ–हे सुविज्ञ! शुद्ध दृष्टि से अर्थात् शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से तत्त्व का श्रद्धान करके और उसका विज्ञान करके अपने स्वभाव की प्राप्ति का उपाय करने में अच्छे आदरभाव से दृष्टि बनाओ अर्थात् उपाय का भी आदर करो।

विशेषार्थ–उपादेय तो मोक्षतत्त्व है और मोक्षमार्ग उपाय है। यदि उपाय का आदर नहीं करोगे तो मोक्षमार्ग का ही अनादर होगा फिर मोक्ष की प्राप्ति का आदर करने से भी क्या होगा? मोक्षमार्ग चाहे निश्चय रूप हो या व्यवहार रूप हो, आदर दृष्टि तो दोनों में ही बनाओ अन्यथा मोक्ष का ही अभाव हो जाएगा।

उपाय के दो भेद

बाह्यादभ्यन्तराद् भेदा-दुपायौ द्विविधौ मतौ ।
बाह्यस्तु पात्रवद् बाह्य-मन्तरङ्गोऽन्तरेऽग्निवत् ॥21॥

दोहा-बाहर भीतर भेद से जानो दोय उपाय।
बाह्य पात्र सम बाह्य है भीतर अगनि समाय॥21॥

अन्वयार्थ–[बाह्यात्] बाह्य से और [अभ्यन्तरात्] अभ्यन्तर के [भेदात्] भेद से [उपायौ] उपाय [द्विविधौ मतौ] दो प्रकार का माना गया है [बाह्यः] बाह्य उपाय [तु] तो [पात्रवद्] पात्र के समान [बाह्यं] बाहर रहता है [अन्तरङ्गः] अंतरंग उपाय [अन्तरे] भीतर में [अग्निवत्] अग्नि की तरह रहता है।

अर्थ–बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से उपाय दो प्रकार का माना गया है। अर्थात् बाह्य उपाय और अन्तरंग उपाय। उसमें बाह्य उपाय तो पात्र-बर्तन की तरह बाहर ही रहता है तथा अन्तरंग उपाय अग्नि के समान भीतर रहता है।

विशेषार्थ–ध्यान के लिए शरीर, संहनन आदि बाह्य द्रव्य तथा अनुकूल क्षेत्र, काल आदि सामग्री भी उपाय होती है। वह बाह्य सामग्री बाहर ही रह जाती है। उसके माध्यम से कार्य होने पर वह उपादान में मिल नहीं जाती है जैसे कि बर्तन में किसी वस्तु को पकाने पर बर्तन, चूला, चम्मच आदि बाहर ही रह जाते हैं। बाह्य उपाय की तरह अंतरंग उपाय भी होते हैं। वे अंतरंग उपाय अग्नि की तरह उपादान में कार्य करते हैं। भिन्न कर्ता, कर्म, करण रूप से स्वीकारे गये ये हेतु व्यवहार नय से हेतु कहे जाते हैं। जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है–

अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः ।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥29॥

अर्थात् निश्चयनय अभिन्न कर्ता, कर्म आदि को विषय बनाता है तथा व्यवहार नय भिन्न कर्ता, कर्म आदि को विषय बनाता है।

ध्यान भी संश्लेष संबंध वाला है

यथात्मा कर्मभिर्बद्धः संश्लेषेण निमित्ततः ।
तथोपादानके हेतोर्ध्यानादेः श्लिष्टता मता ॥22॥

दोहा-जैसे आतम कर्म से एकमेक हों बद्ध।
ध्यान अनल से नष्ट त्यों, विधि जो आत्म निबद्ध॥22॥

अन्वयार्थ–[यथा] जैसे [आत्मा] [संश्लेषेण] संश्लेष के द्वारा [निमित्ततः] निमित्त के माध्यम से [कर्मभिः] कर्मों के द्वारा [बद्धः] बंधा है [तथा] उसी प्रकार [उपादानके] उपादान में [ध्यानादेः] ध्यान आदि [हेतोः] हेतु से [श्लिष्टता] संश्लेष [मता] माना गया है।

अर्थ–जैसे आत्मा निमित्त से कर्मों के द्वारा संश्लेष रूप से बंध को प्राप्त है उसी प्रकार उपादान में (आत्मा में) ध्यान आदि हेतु संश्लिष्ट भाव से होते हैं।

विशेषार्थ–आत्मा में कर्मों का अपने ही मिथ्यात्वादि भाव प्रत्ययों से अपने ही क्षेत्र में एक क्षेत्रावगाह रूप से जिस तरह कर्म बंधते हैं उसी तरह ध्यान आदि हेतु आत्मा में संश्लिष्ट भाव से रहते हैं जिनके माध्यम से कर्मों की निर्जरा होती है।

श्रद्धान और अनुभव में गुणस्थान व्यवस्था

श्रद्धानात् सम्प्रतीतिः स्याद् गुणस्थाने चतुर्थके।
तस्मादनुभवः क्रमात् सप्तमे चाष्टमादिके॥23॥

दोहा-हो प्रतीति श्रद्धान से चौथा जो गुणठाण।
सप्तम आदिक में तभी अनुभव बढ़ता जान॥23॥

अन्वयार्थ-[श्रद्धानात्] श्रद्धान से [सम्प्रतीतिः] समीचीन प्रतीति [चतुर्थके गुणस्थाने] चतुर्थ गुणस्थान में [स्यात्] होती है [तस्मात्] उससे [सप्तमे] सातवें [च] और [अष्टमादिके] अष्टम आदि गुणस्थान में [क्रमात्] क्रम से [अनुभवः] अनुभव होता है।

अर्थ-चौथे गुणस्थान में तत्त्व श्रद्धान से तत्त्व की प्रतीति होती है किन्तु तत्त्व का अनुभव तो क्रम से सप्तम-अष्टम आदि गुणस्थानों में बढ़ता हुआ होता है।

विशेषार्थ-श्रद्धान को ही प्रतीति या रुचि कहा जाता है। इसलिए तत्त्व श्रद्धान का अर्थ यहाँ तत्त्व प्रतीति भी कहा है। जैसे मिथ्यात्व के कारण शरीर और आत्मा के एकत्व की प्रतीति होती है वैसे ही मिथ्यात्व के अभाव में सम्यग्दृष्टि जीव को शरीर और आत्मा में भिन्नत्व की प्रतीति अवश्य होती है। फिर भी सम्यग्दृष्टि जीव को उस तत्त्व का शुद्ध अनुभव नहीं होता है क्योंकि वह अनुभव अभी और कषायों के अभाव की अपेक्षा रखता है। फिर भी जो होता है वह मिथ्यादृष्टि से तो अति विशिष्ट होता है।

व्यवहार और निश्चयसम्यक्त्व

सप्त-तत्त्वार्थविश्वासः सम्यक्त्वं व्यवहारतः ।
आसप्तमान्निजं वेत्ति तत ऊर्ध्वं सुनिश्चयात् ॥24॥

दोहा-सप्त तत्त्व विश्वास से व्यवहारी सम्यक्त्व।
सप्तम से निज जानता निश्चय सत्सम्यक्त्व॥24॥

अन्वयार्थ–[सप्ततत्त्वार्थविश्वासः] सात तत्त्वों पर विश्वास [व्यवहारतः] व्यवहार से [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है [आ सप्तमात्] सप्तम गुणस्थान तक व्यवहार सम्यग्दृष्टि [निजं] निज को [वेत्ति] जानता है [ततः] उस सप्तम गुणस्थान से [ऊर्ध्वं] आगे निज आत्मा को [सुनिश्चयात्] अच्छी तरह निश्चय से जानते हैं।

अर्थ–सप्त तत्त्वार्थ पर विश्वास होना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यह व्यवहार सम्यग्दृष्टि सप्तम गुणस्थान तक अपनी निज आत्मा को भी व्यवहार से ही जानता है। इसके आगे अपनी आत्मा को निश्चय से जानता है अर्थात् अनुभव करता है।

विशेषार्थ–व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को भी जानता है और सप्त तत्त्वों को भी जानता है। सप्तम गुणस्थान में जब तक प्रवृत्ति रहती है तब तक भी वह श्रमण व्यवहार सम्यग्दृष्टि है। निवृत्ति दशा में सप्तम गुणस्थान में निश्चय सम्यग्दृष्टि है। अष्टम आदि गुणस्थानों में मुख्य रूप से अपने आत्म तत्त्व को निश्चय से वेदन करता है अर्थात् अनुभव करता है। यहाँ निश्चय से अनुभवात्मक परिणति को निश्चय नय कहा है। ध्यान से पूर्व आत्मा को निश्चय नय से जानता है किन्तु अनुभव नहीं करता है।

करणानुयोग से सम्यग्दर्शन

विधेरुपशमात् क्षया-दुदयाद् व्यवहारतः ।
सम्यक्त्वं स्वस्वरूपं यत् तत् करणानुयोगतः ॥25॥

दोहा- उपशम, क्षय या उदय से जो होता सम्यक्त्व।
वह भी आत्म स्वरूप है व्यवहारी है सत्य॥25॥

अन्वयार्थ–[उपशमात् विधेः] उपशम विधि से [क्षयात्] क्षय विधि से [उदयात्] उदय विधि से [यत्] जो [व्यवहारतः] व्यवहार नय से [सम्यक्त्वं] सम्यग्दर्शन है [तत्] वह [करणानुयोगतः] करणानुयोग से [स्वस्वरूपं] स्व स्वरूप है।

अर्थ–कर्मों के उपशमन से उपशम सम्यग्दर्शन, क्षय विधि से क्षायिक सम्यक्त्व और उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जो होता है वह व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन भी करणानुयोग से स्व स्वरूप है।

विशेषार्थ–सात कर्मों के यथायोग्य उपशमन आदि होने पर करणानुयोग से जो आत्मा में सम्यग्दर्शन का भाव उत्पन्न होता है वह भी आत्मा का स्व स्वरूप है, वास्तविक सम्यक्त्व है। उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन ही कहा जाता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन अयथार्थ को नहीं किन्तु आत्मा में समुत्पन्न यथार्थ परिणति को ही कहा जाता है। सम्यग्दर्शन व्यवहार से है इसलिए अभूतार्थ है या झूठा है। इत्यादि विचार करना भी एकान्त से मिथ्या है।

व्यवहार सम्यक्त्व की विशेषता

एतस्मिन्नानुभूतिः स्या-दात्मनः केवलं रुचिः ।
परः कोऽपि न जानाति सम्यग्दर्शनलक्षणम् ॥26॥

दोहा-इस सम्यक्त्वी को नहीं हो आतम अनुभूति।
किन्तु रुची प्रकटे स्वयं अन्य न जाने सूति॥26॥

अन्वयार्थ-[एतस्मिन्] इस व्यवहार सम्यग्दर्शन में [आत्मनः] आत्मा की [अनुभूतिः] अनुभूति [न स्यात्] नहीं होती है [केवलं] केवल [रुचिः] रुचि प्रगट होती है [परः] अन्य [कोऽपि] कोई भी [सम्यग्दर्शनलक्षणम्] सम्यग्दर्शन के लक्षण को [न] नहीं [जानाति] जानता है।

अर्थ-पूर्वोक्त औपशमिक आदि तीनों प्रकार के व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीवों को आत्मा की अनुभूति नहीं होती है किन्तु आत्मा की केवल रुचि अर्थात् श्रद्धा या प्रतीति होती है। सम्यग्दर्शन के लक्षण इस आत्मा में हैं या नहीं, ऐसा कोई भी अन्य व्यक्ति नहीं जान सकता है।

विशेषार्थ-व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव का आत्मा के विषय में जो अनादि से भ्रम चला आ रहा था, वह टूट जाता है। वह देह के स्वरूप से भिन्न अपनी आत्मा को शास्त्रोक्त लक्षणों से अपनी श्रद्धा का विषय बनाता है, उसी रूप में उसकी रुचि करता है प्रतीति करता है किन्तु उसे आत्मा का आत्मरूप से अनुभवन मात्र नहीं होता है।

चरणानुयोग से सम्यक्त्व

सम्यग्दृष्टिरियं स्यान्न वा चरणानुयोगतः ।
अष्टाङ्गाचरणाज्ज्ञेया शमादिलक्षणात्तथा ॥27॥

दोहा- प्रशम आदि लक्षण तथा अष्ट अंग भी जान।
चरण महा अनुयोग से सम्यक्त्वी पहिचान॥27॥

अन्वयार्थ–[इयं] यह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [स्यात्] है [न वा] अथवा नहीं है इसे [चरणानुयोगतः] चरणानुयोग से [तथा] उसी प्रकार [शमादिलक्षणात्] शम आदि लक्षणों से [अष्टाङ्गाचरणात्] अष्टाङ्ग आचरण से [ज्ञेया] जानना चाहिए।

अर्थ–चरणानुयोग के अनुसार शम आदि लक्षणों से और निःशंकित आदि आठ अंगों के आचरण से यह जानने में आता है कि यह सम्यग्दृष्टि है या नहीं।

विशेषार्थ–करणानुयोग से सम्यग्दर्शन का ज्ञान नहीं होता है। चरणानुयोग से सम्यग्दर्शन की किञ्चित् पहचान जो होती है। वह प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य लक्षणों से तथा सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंगों के अनुरूप आचरण से जानी जाती है।

सम्यग्दृष्टि की प्रसन्नता किसमें है?

श्रद्दधाति विजानाति सप्त तत्त्वानि ह्यागमात् ।
जिनं नत्वा गुरुं दृष्ट्वा श्रुतं श्रुत्वा स मोदते ।।28।।

दोहा- आगम से सत तत्त्व की श्रद्धा करता ज्ञान।
जिन नुति गुरु दर्शन तथा श्रुत सुनकर सुख भान।।28।।

अन्वयार्थ–[सः] वह [सप्त तत्त्वानि] सात तत्त्वों को [आगमात्] आगम से [हि] निश्चय से [श्रद्दधाति] श्रद्धान करता है [विजानाति] जानता है [जिनं] जिनेन्द्र देव को [नत्वा] नमस्कार करके [गुरुं] गुरु का [दृष्ट्वा] दर्शन करके [श्रुतं] श्रुत को [श्रुत्वा] सुनकर [मोदते] प्रसन्न होता है।

अर्थ–वह व्यवहार सम्यग्दृष्टि सात तत्त्वों की आगम से अच्छी तरह श्रद्धा बनाता है, जानता है और जिनदेव को नमस्कार करके, गुरु का दर्शन करके तथा शास्त्र को सुनकर प्रमुदित होता है।

विशेषार्थ–हे भव्यात्मन्। अनादिकाल से तुमने कभी जीवादि तत्त्वों का ज्ञान नहीं सुना, यदि सुना भी तो उसकी श्रद्धा नहीं की, उसकी रुचि नहीं की। जीव, आत्मा तो हर कोई कहता है किन्तु उसके गुण, धर्म, स्वभाव और परिणमन की कोई नहीं श्रद्धा करता है। कौन जानेगा कि जीव असंख्यात प्रदेशी है? कौन श्रद्धा करेगा कि जीव कर्मों से प्रति समय बंध रहा है? उन कर्मों के कारण मिथ्यात्व आदि कर्म प्रत्यय अनादि से जीव के साथ हैं, मोक्ष अवस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तसुख होता है, इत्यादि तथ्यों से तत्त्व श्रद्धान सुनकर भला वह प्रमुदित क्यों नहीं होगा? जन्मान्ध को मानो आँखें मिल गयी हों, दरिद्री को मानो नवनिधियाँ मिल गयी हों।

सम्यग्दृष्टि की विभिन्न क्रियाएँ

क्वचिद् दानं क्वचित् पूजा क्वचिद् भक्तिः क्वचित् स्तुतिः ।
क्वचिद् भोगः क्वचिद् योगः क्वचित् तत्त्वानुचिन्तनम् ॥29॥

दोहा- कभी दान, पूजा कभी कभी भक्ति थुति होय।
कभी भोग भी योग भी तत्त्व सुचिन्तन होय॥29॥

अन्वयार्थ–[क्वचिद् दानं] कभी दान [क्वचित् पूजा] कभी पूजा [क्वचित्] कभी [भक्तिः] भक्ति [क्वचित्] कभी [स्तुतिः] स्तुति [क्वचित्] कभी [भोगः] भोग [क्वचित्] कभी [योगः] योग [क्वचित्] कभी [तत्त्वानुचिन्तनम्] तत्त्व चिन्तन होता है।

अर्थ–वह व्यवहार सम्यग्दृष्टि कभी दान करता है, कभी पूजा करता है, कभी जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करता है, कभी स्तुति करता है, कभी योग करता है, कभी ध्यान, सामायिक आदि योग करता है। कभी तत्त्वों का अनुचिन्तन करता है। इस तरह उसके जीवन का प्रतिदिन व्यतीत होता है।

विशेषार्थ–सम्यग्दृष्टि जीव का व्यवहार ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है। उसके व्यवहार में सभी कार्य होते हैं किन्तु विवेक, श्रद्धा और आनन्द के साथ। वह जीवन की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए, अपने मन को अलौकिक कार्यों में अधिक लगाता है, लौकिक कार्यों को राग की मन्दता के साथ करता है। जीवन योग-भोग का एक अद्भुत संयोजन बन जाता है। शनैःशनैः अपने अनुभव से जीवन की वास्तविकताओं को समझते हुए कर्मयोगी बन जाता है। अर्थात् कर्म/क्रियाओं में अनासक्त हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि क्या-क्या करता है?

क्वचित् करोति सत्पाठं क्वचित् स्वाध्यायवर्तनम् ।
कवचित् जिनालयं स्तौति क्वचित् सद्गुरुसन्निधिम् ॥30॥

दोहा- कभी करे श्रुत पाठ भी कभी शास्त्र अभ्यास।
कभी जिनालय संस्तुती कभी गुरू सह वास॥30॥

अन्वयार्थ–[क्वचित्] कभी [सत्पाठं] समीचीन पाठ [करोति] करता है [क्वचित्] कभी [स्वाध्यायवर्तनम्] स्वाध्याय में प्रवृत्ति करता है [क्वचित्] कभी [जिनालयं] जिनालय की [स्तौति] स्तुति करता है [क्वचित्] कभी [सद्गुरुसन्निधिम्] सद्गुरु की सन्निधि में रहता है।

अर्थ–वह व्यवहार सम्यग्दृष्टि कभी शास्त्र का पाठ करता है। कभी स्वाध्याय में लीन होता है, कभी जिनालय की स्तुति करता है और कभी समीचीन निर्ग्रन्थ गुरु के निकट रहता है।

विशेषार्थ–जिसके अन्दर अलौकिक आत्म तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान हुआ है, वह अपना मन अन्य कार्यों से बचाकर शास्त्र-स्वाध्याय में लगाता है, वीतराग भगवन् के गुणों की स्तुति में लगाता है, निर्ग्रन्थ गुरु के चरणों में बैठता है।

सम्यग्दृष्टि के कार्य

क्वचित्प्रभावनाकार्यं क्वचिद् दोषोपगूहनम् ।
क्वचित् साधर्मिवात्सल्यं क्वचित् पूजानुयोजनम् ॥31॥

दोहा- काज प्रभावन का करे कभी ढके पर दोष।
साधर्मी से नेह औ पूजे जिन निर्दोषि॥31॥

अन्वयार्थ–[क्वचित्] कभी [प्रभावना कार्यं] प्रभावना के कार्य [क्वचित्] कभी [दोषोपगूहनम्] पर के दोषों को छुपाता है [क्वचित्] कभी [साधर्मिवात्सल्यं] साधर्मी से वात्सल्य करता है [क्वचित्] कभी [पूजानुयोजनम्] पूजा में अपने को जोड़ता है।

अर्थ–वह व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव कभी प्रभावना के कार्यों में लगता है, किसी समय किसी के दोषों को देखकर, सुनकर उन्हें छुपाता है, किसी समय साधर्मी में वात्सल्य-अनुराग में प्रवृत्त होता है, किसी समय पूजा आदि के अनुसार अपने को जोड़ता है।

विशेषार्थ–सम्यग्दृष्टि जीव के ये कार्य उसके सम्यग्दर्शन की और अधिक विशुद्धि के लिए होते हैं। सम्यग्दृष्टि इसी कारण से इन गुणों को अपनाता है। भगवती आराधना में भी कहा है–

उवगूहण द्विदिकरणं वच्छल्लपभावण गुणा भणिदा ।
सम्मत्तविसोधीए उवगूहणकारणा चउरो ॥44॥

अर्थ–उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये चार गुण सम्यक्त्व की विशुद्धि को बढ़ाने के लिए हैं।

सम्यग्दृष्टि के विरोधी कार्य

क्व परमेष्ठिनो ध्यानं क्व परिग्रहसंचयः ।
क्व णमोकारसज्जापः क्व नारीगृहलग्नता ॥32॥

दोहा-कभी ध्यान परमेष्ठि का कभी परिग्रह ढेर।
णमोकार का जाप तो नारी घर का फेर॥32॥

अन्वयार्थ–[क्व] कहाँ [परमेष्ठिनः] परमेष्ठी का [ध्यानं] ध्यान [क्व] कहाँ [परिग्रहसंचयः] परिग्रह का संचय [क्व] कहाँ [णमोकारसज्जापः] णमोकार का समीचीन जाप [क्व] कहाँ [नारीगृहलग्नता] स्त्री और घर में संलग्न होना।

अर्थ–व्यवहार से अविरतसम्यग्दृष्टि जीव की मनः परिणति बड़ी विचित्र रहती है। कभी तो वह पंच परमेष्ठी का ध्यान करता है, कभी परिग्रह का संचय करता है, कभी णमोकार मंत्र का जाप करता है, तो कभी स्त्री और गृहकार्य में संलग्न होता है।

विशेषार्थ–सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ भी होता है। घर गृहस्थी में रहकर भी तत्त्व श्रद्धान पूर्वक जाप, ध्यान आदि करके अन्य गृह कार्यों को भी करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव उपचार से मोक्षमार्गी है।

सम्यक्त्वाचरणं चैतद् हानेरादिकषायतः ।
उपचाराच्च मार्गी स्या-दव्रती परमार्थतः ॥33॥

दोहा- प्रथम कषाय विहानि से समकित चारित होय।
मार्गी तो उपचार से रहितव्रती वह होय॥33॥

अन्वयार्थ–[आदिकषायतः] आदिकषाय की [हानेः] हानि से [एतद्] यह [सम्यक्त्वाचरणम्] सम्यक्त्वाचरण होता है [उपचाराच्च] उपचार से [मार्गी] वह मोक्षमार्गी [स्यात्] होता है [परमार्थतः] परमार्थ से [अव्रती] अव्रती होता है।

अर्थ–प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय की हानि से अविरत सम्यग्दृष्टी जीव का यह सम्यक्त्वाचरण होता है। वह जीव चतुर्थ गुणस्थान में उपचार से मोक्षमार्गी होता है किन्तु परमार्थ से वह अव्रती होता है।

विशेषार्थ–अविरत सम्यग्दृष्टि जीव का जो आचरण निःशंकित आदि आठ अंगों के साथ किया जाता है वही सम्यक्त्वाचरण कहलाता है। यहाँ से मोक्षमार्ग की ओर मुख होता है किन्तु वह जीव मोक्षमार्गी नहीं होता है। मार्गी वह होता है जो मार्ग पर चले। सम्यक्चारित्र के अभाव में उसे मोक्षमार्गी कहना उपचार से ही होता है क्योंकि वह जीव आगे सम्यक् चारित्र को धारण करने योग्य हो जाता है। जैसे राजा के पुत्र को राजा बनने से पहले राजकुमार कहा जाता है वैसे ही यह उपचार से मोक्षमार्गी है। अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय का अभाव होने पर संज्वलन के देशधाती स्पर्धकों का उदय जब तक नहीं होता तब तक महाव्रत के अभाव में सम्यक्चारित्र नहीं होता है। सम्यक्चारित्री जीव ही मुख्यता से मोक्षमार्गी है।

पंचपरमेष्ठी पूज्य हैं

अर्हत्सिद्धौ सदा साध्यौ त्रयः शेषास्तु साधकाः ।
साध्यैस्ते च समा पूज्याः सूरिदेशकसाधवः ॥34॥

दोहा- अर्हत् सिद्ध तु साध्य हैं साधक है अन तीन।
किन्तु पूज्य हैं साध्य सम पाँचों धर्म प्रवीण॥34॥

अन्वयार्थ–[अर्हत्सिद्धौ] अरिहन्त और सिद्ध [सदा] सदा [साध्यौ] साध्य हैं [शेषाः] शेष [त्रयः] तीन [तु] तो [साधकाः] साधक हैं [ते च] वे [सूरिदेशकसाधवः] आचार्य, उपाध्याय और साधु [साध्यैः] साध्य के [समा] समान [पूज्याः] पूज्य हैं।

अर्थ–पंचपरमेष्ठी में अरिहन्त और सिद्ध सदा साध्य हैं और तीन परमेष्ठी साधक हैं। वे आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी साधक होकर भी साध्य के समान पूज्य हैं।

विशेषार्थ–आत्मा में पूज्यता का कारण रत्नत्रय है। आचार्य आदि भी रत्नत्रय के धारक हैं। इसलिए रत्नत्रय की अपेक्षा से पंचपरमेष्ठी में कोई अन्तर नहीं है। यह बात श्री धवला टीका में भी कही है। पाँचों ही परमेष्ठी का बाह्य और अन्तर स्वरूप रत्नत्रय की अपेक्षा समान होता है। जो बाहर से निर्ग्रन्थ हों वे ही अन्तरंग में रत्नत्रय से शुद्ध होकर परमेष्ठी संज्ञा से सुशोभित होते हैं। वस्त्रधारी कितना ही उत्कृष्ट साधक क्यों न हो? वह पंचपरमेष्ठी की श्रेणी में नहीं आता है। स्त्री कभी भी पंचपरमेष्ठी की गिनती में परिगणित नहीं होती है। पंचपरमेष्ठी को ही 'पूज्य' संज्ञा से कहा जाता है कपड़े वालों को नहीं।

मोक्षमार्ग रत्नत्रय है।

रत्नत्रयमयो मार्गस्तदस्ति साधकत्रये ।
मोक्षमार्गस्थितास्ते हि तथान्ये दृष्टिसाधकाः ॥35॥

दोहा-रत्नत्रय मय मार्ग है साधक में वह होय।
शिवमार्गी वे ही कहे अन समकित दिठि होय॥35॥

अन्वयार्थ-[मार्गः] मार्ग [रत्नत्रयमयः] रत्नत्रयमय है [साधकत्रये] तीनों साधक में [तदस्ति] वह मार्ग है [ते] वे [हि] वास्तव में [मोक्षमार्गस्थिताः] मोक्षमार्ग पर स्थित हैं [तथा] तथा [अन्ये] अन्य तो [दृष्टिसाधकाः] सम्यग्दर्शन के साधक हैं।

अर्थ-मोक्षमार्ग रत्नत्रयमय है। आचार्य आदि तीनों साधकों में वह रत्नत्रयमय मार्ग है। इसलिए वास्तव में वे ही मोक्षमार्ग पर स्थित हैं अन्य अविरत सम्यग्दृष्टि तो मात्र सम्यग्दर्शन के साधक हैं।

विशेषार्थ-रत्नत्रय को ही मोक्षमार्ग कहा है। मोक्षमार्गी की बाह्य पहिचान निर्ग्रन्थ रूप है। अन्तरंग पहिचान रत्नत्रय धर्म है। आचार्य आदि तीनों परमेष्ठी उपर्युक्त दोनों रूपधारी होते हैं इसलिए उन्हें ही मोक्षमार्ग पर स्थित साधक कहा जाता है। जो मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के आराधक हैं। वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के ही साधक हैं रत्नत्रय के नहीं।

व्यवहार नय पूज्य है

जानाति केवली सर्वं व्यवहारेण पश्यति ।
सर्वज्ञत्वं यतः पूज्यं पूज्या तद्व्यवहारता ॥36॥

दोहा-जानें सब व्यवहार से केवलज्ञानी देव।
अतः पूज्य व्यवहारता यतः पूज्य वे देव॥36॥

अन्वयार्थ–[केवली] केवली भगवान् [व्यवहारेण] व्यवहार से [सर्वं] सब को [जानाति] जानते हैं [पश्यति] देखते हैं [यतः] चूँकि [सर्वज्ञत्वं] सर्वज्ञत्व [पूज्यं] पूज्य है इसलिए [तद्व्यवहारता] वह व्यवहारता [पूज्या] पूज्य है।

अर्थ–केवली भगवान व्यवहार नय से ही विश्व को जानते और देखते हैं इसलिए सर्वज्ञपना व्यवहार से है। चूँकि वह सर्वज्ञत्व पूज्य है इसलिए वह व्यवहारता अर्थात् व्यवहारनय भी पूज्य है।

विशेषार्थ–यदि व्यवहारनय पूज्य न होते तो सर्वज्ञता भी पूज्य न होवे। सर्वज्ञ की पूज्यता के अभाव में सर्वज्ञ की प्रामाणिकता का अभाव हो जाएगा। जब सर्वज्ञ ही प्रामाणिक नहीं रहेंगे तो उनके द्वारा कहा हुआ वस्तु तत्त्व कैसे प्रामाणिक होगा? व्यवहार अभूतार्थ है, यह एकान्त कथन गलत सिद्ध होगा।

दिव्यदेशना व्यवहारनय से है

कायवागवलम्बेन जिनस्य दिव्यदेशना ।
तत्त्वदायी यतः पूज्या पूज्या तद्व्यवहारता ॥37॥

दोहा-वचन काय के योग से श्री जिनवर उपदेश।
अतः पूज्य व्यवहारता यतः पूज्य उपदेश॥37॥

अन्वयार्थ–[जिनस्य] जिनेन्द्र भगवान की [दिव्यदेशना] दिव्य देशना [तत्त्वदायी] तत्त्व को देने वाली है जो [कायवागवलम्बेन] काय और वचन के आलम्बन से होती है [यतः] चूँकि वह [पूज्या] पूज्य है [तद्व्यवहारता] वह व्यवहारपना भी [पूज्या] पूज्य है।

अर्थ–तत्त्व का ज्ञान कराने वाली जिनेन्द्रभगवान की दिव्य देशना काय और वचन के आलम्बन से होती है अर्थात् दिव्यदेशना भी पर का आलम्बन लेने से होती है फिर भी वह पूज्य है। इसी तरह वह व्यवहारता भी पूज्य है।

विशेषार्थ–परमार्थ से बोलना नहीं होता है। भगवान जिनेन्द्र देव भी काय और वचन योग के माध्यम से ही बोलते हैं। यदि पर का आलम्बन लेना व्यवहार है और व्यवहार सर्वथा असत्य होता है तो दिव्यदेशना भी व्यवहार नय से होती है वह सत्य कैसे होगी? सत्य के बिना पूज्यता कहाँ से आएगी। इससे सिद्ध होता है कि वह व्यवहारता और व्यवहारनय और उससे जानने में आने वाली वस्तु भी पूज्य है। वचन बोलना तो और बड़ा व्यवहार है। सर्वज्ञ का पर पदार्थों को जानने से भी बड़ा व्यवहार, दूर का व्यवहार उनकी दिव्य ध्वनि है क्योंकि बोलने में तो शब्द योग्य पुद्गल वर्गणाओं का आलंबन लेना है। श्रुतज्ञानी भी स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार के होते हैं। परार्थ श्रुत से ही जिनवाणी की देशना दूसरों को सुनाई जाती है, इसी से ही देशना लब्धि है। इसी से ही तीर्थ प्रवृत्ति है अतः व्यवहार तीर्थ/देशना धर्म भी पूज्य है, यह व्यवहार की पूज्यता से ही संभव है।

तीर्थ प्रवर्तन व्यवहार से है

तीर्थं प्रवर्तते नित्यं विधेस्तीर्थङ्करात् शुभात् ।
केवलिनोऽन्यथाऽन्यस्य पूज्या तद्व्यवहारता ॥38॥

दोहा-तीर्थंकर शुभनाम से तीर्थ प्रवृत्ती होय।
अतः पूज्य व्यवहारता यतः पूज्य विधि होय॥38॥

अन्वयार्थ–[शुभात्] शुभ [तीर्थङ्करात् विधेः] तीर्थंकर नाम कर्म से [तीर्थं] तीर्थ [नित्यं] सदा [प्रवर्तते] प्रवृत्त होता है [अन्यथा] अन्यथा [अन्यस्य] अन्य [केवलिनः] केवली का तीर्थ भी होगा [तद्व्यवहारता] वह व्यवहारता [पूज्या] पूज्य है।

अर्थ–तीर्थंकर शुभ नाम कर्म से सदा तीर्थ का प्रवर्तन होता है अन्यथा नहीं। यदि ऐसा न हो तो सभी केवली का तीर्थ प्रवर्तन होगा। इसलिए वह व्यवहारता पूज्य है।

विशेषार्थ–तीर्थ प्रवर्तन केवलज्ञान हो जाने पर उन्हीं केवली का होता है जिनके अत्यन्त शुभ तीर्थंकर नाम कर्म का उदय होता है अन्यथा तो सभी केवली के तीर्थ प्रवर्तन का प्रसंग आ जाता? कर्म पर है उस पर परिणति के उदय से ही व्यवहार नय से तीर्थ प्रवृत्ति होती है अतः तीर्थ जिस प्रकार पूज्य है उसी प्रकार वह व्यवहारता अर्थात् व्यवहार नय भी पूज्य है।

तीर्थंकरों की देह भी पूज्य है

देवास्तीर्थेशिनां केशान् क्षिपन्ति क्षीरवारिधौ ।
देहः खलु यतः पूज्यः पूज्या तद्व्यवहारता ॥39॥

दोहा-देव केश को क्षेपते क्षीरनिधी में जाय।
अतः पूज्य व्यवहारता देह पूज्यता थाय॥39॥

अन्वयार्थ-[तीर्थेशिनां] तीर्थंकरों के [केशान्] केशों को [क्षीरवारिधौ] क्षीरसमुद्र में [देवाः] देव [क्षिपन्ति] क्षेपण करते हैं [यतः] चूँकि [देहः] देह [खलु] भी निश्चित रूप से [पूज्यः] पूज्य है [तद्व्यवहारता] वह व्यवहारता भी [पूज्या] पूज्य है।

अर्थ-देव जन भी तीर्थंकरों के केशों को क्षीरसमुद्र में क्षेपण करते हैं। चूँकि देह पूज्य है इसलिए केशादि भी पूज्य हैं। अतः व्यवहार नय भी पूज्य है, यह सिद्ध है।

विशेषार्थ-यदि व्यवहार नय पूज्य न होवे तो केवल आत्मा की स्तुति ही की जावे किन्तु देह की स्तुति भी जैनाचार्यों ने की है। देह के जन्म के दश अतिशय पूज्यता के कारण ही कहे जाते हैं। इसके साथ ही दो तीर्थंकर के शरीर का रंग सफेद, दो का लाल, दो का हरा, दो का नीला और शेष का पीला यह स्तुति का विषय भी देह की पूज्यता से ही बनता है। उन तीर्थंकरों के केश और नख का विसर्जन भी देवों द्वारा आदरपूर्वक होता है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार नय भी पूज्य है तभी व्यवहार को विषय करने वाले देह आदि भी पूज्य होते हैं, अन्यथा नहीं।

भगवान् ने व्यवहारनय का आलम्बन लिया

परमालम्बते भेदं नयस्तु व्यवहारकः ।
विना पराश्रयं वीरैः कृता न तीर्थदेशना ।।40।।

दोहा-पर आलम्बन लेय के नय व्यवहारा आय।
पर आश्रय बिन वीर की नहीं देशना थाय।।40।।

अन्वयार्थ–[व्यवहारकः नयः] व्यवहार नय [तु] निश्चित ही [परं] पर का और [भेदं] भेद का [आलम्बते] आलम्बन लेता है [वीरैः] वीर भगवान ने [पराश्रयं बिना] पर का आश्रय लिए बिना [तीर्थदेशना] तीर्थ देशना [न कृता] नहीं की है।

अर्थ–पर का और भेद का आलम्बन लेकर ही व्यवहारनय प्रवृत्त होता है। वीर भगवान के द्वारा पर का आश्रय लिए बिना तो तीर्थदेशना भी नहीं हुई।

विशेषार्थ–व्यवहार नय का स्वभाव है कि वह पर का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है और भेद परक कथन करता है। यह व्यवहारनय इतना उपयोगी और पूज्य है कि स्वयं तीर्थंकर वीर भगवान भी केवलज्ञान के साथ अनन्त शक्ति से युक्त होते हुए भी जब तक मन, वचन, काय का आलम्बन नहीं लेते तब तक देशना भी नहीं दे सकते हैं। इसी के साथ गौतम गणधर के अभाव में छ्यासठ दिन तक दिव्य ध्वनि नहीं खिरना व्यवहारनय की उपयोगिता को बताता है और सिद्ध करता है कि तीर्थंकर भी व्यवहारनय के आश्रित हैं फिर सामान्य जनों की क्या बात?

निश्चय का ज्ञान भी व्यवहारनय से है

निश्चयनयमुख्यत्वाज् ज्ञानं खलु शुद्धात्मनः ।
व्यवहारनयैर्ज्ञातं पूज्या तद् व्यवहारता ॥41॥

दोहा- निश्चय नय से ही मिले शुद्धातम का सार।
नय व्यवहारा ही कहे अतः पूज्य व्यवहार॥41॥

अन्वयार्थ–[खलु] निश्चय से [शुद्धात्मनः] शुद्धात्मा का [ज्ञानं] ज्ञान [निश्चयनयमुख्यत्वात्] निश्चयनय की मुख्यता से होता है [व्यवहारनयैः] व्यवहार नयों के द्वारा [तद्] वह [ज्ञातं] ज्ञात होता है [व्यवहारता] इसलिए व्यवहारता [पूज्या] पूज्य है।

अर्थ–निश्चय नय की मुख्यता से जो शुद्धात्मा का ज्ञान निश्चित रूप से होता है वह भी व्यवहार नयों के द्वारा ही कराया जाता है इसलिए व्यवहार नय पूज्य है।

विशेषार्थ–जिनवाणी में कहे गए दोनों नय शब्द ब्रह्म हैं। इस शब्द ब्रह्म से ही परमार्थभूत ब्रह्म का ज्ञान होता है। शब्द के बिना अर्थ प्रतीति में नहीं आता है इसलिए निश्चयनय के विषयभूत आत्मा का कथन करना भी व्यवहार नय की तरह पराश्रित है। शब्द सो व्यवहार है। इस अपेक्षा से शब्द व्यवहार के द्वारा कितना बड़ा उपकार आत्मा पर किया जाता है। इस उपकार से ही परम-अर्थ अनुभव में आता है। इसलिए साध्यसिद्धि का साधन भी साध्य की तरह पूज्य होता है। इसी कारण से आत्मानुभूति शब्द से परे कही गई है। दोनों नयों के विषय से परे समयसार है। 'णयपक्खातिकंतो भणिदो जो सो समयसारो' समयसार के यह वचन व्यवहार नय से ही पूज्य हैं, अतः व्यवहारनय पूज्य है।

निमित्त से उपादान की शुद्धि

द्रव्यमन्यस्य साहाय्यं कुरुते परिणामयेत् ।
नोचेत् कालादिवह्नेश्च पाषाणात् स्वर्णता कथम् ।।42।।

दोहा-द्रव्य सहायक अन्य का परिणामी भी होय।
यदि ना तो पाषाण से स्वर्ण कहाँ से होय।।42।।

अन्वयार्थ–[द्रव्यं] एक द्रव्य [अन्यस्य] अन्य द्रव्य की [साहाय्यं] सहायता [कुरुते] करता है तथा [परिणामेयत्] परिणमन कराता है [नो चेत्] यदि ऐसा न हो तो [कालादिवह्नेश्च] काल आदि और अग्नि से [पाषाणात्] पाषाण से [स्वर्णता] स्वर्णपना [कथं] कैसे प्राप्त हो?

अर्थ–एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सहायता करता है और उसको परिणमन भी कराता है। यदि ऐसा न हो तो काल आदि लब्धि के योग से और अग्नि आदि के संयोग से पाषाण में से स्वर्णता कैसे प्रकट हो सकती है।

विशेषार्थ–खदान में से पाषाण कुंदाली आदि उपकरण के सहयोग से किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा निकाला जाता है। स्वर्णकार के द्वारा अग्नि आदि के संयोग से उसकी अशुद्धि को दूर किया जाता है और उसे शुद्ध बनाया जाता है। पाषाण से स्वर्ण जिस तरह परद्रव्य के सहयोग और परिणमन के द्वारा प्राप्त होता है उसी तरह अशुद्ध आत्मा को बाह्य निमित्तों जिनबिम्ब, सदुपदेश आदि के सहयोग से और तप, ध्यान आदि की अग्नि से शुद्ध रूप में परिणमन कराया जाता है।

क्रम से आचरण करने की प्रेरणा

व्यवहारनयेनैव तावदाचरतु क्रमात् ।
निश्चयेनानुभूतिर्न भवेत् संविदितात्मनः ॥43॥

दोहा-क्रम से तुम व्यवहार से नय का लो आलम्ब।
निश्चय से अनुभूति का जब तक ना प्रारम्भ॥43॥

अन्वयार्थ–[व्यवहारनयेन] व्यवहार नय से [एवं] इस प्रकार [तावत्] तब तक [क्रमात्] क्रम से [आचरतु] आचरण करो जब तक [संविदितात्मनः] संवेदन रूप आत्मा की [निश्चयेन] निश्चय से [अनुभूतिः] अनुभूति [न भवेत्] न होवे।

अर्थ–व्यवहार नय से इस प्रकार व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को जानकर तब तक क्रम से आचरण करो जब तक कि ज्ञान संवेदन रूप आत्मा की निश्चय से अनुभूति न हो जावे।

विशेषार्थ–सम्यग्ज्ञानी जीव व्यवहार और निश्चय दोनों नयों से वस्तु तत्त्व को जानता है। निश्चय नय का लक्ष्य बनाकर वह व्यवहार को तब तक करता है जब तक कि निश्चयनय से आत्मतत्त्व की अनुभूति न हो।

लौकिक-अलौकिक व्यवहार

लौकिको व्यवहारोऽस्ति तथैवालौकिको मतः ।
विवेच्य निजभावानां शुद्ध्यशुद्धिं सदा चरेत् ॥44॥

दोहा- लौकिक भी व्यवहार है तथा अलौकिक जान।
निज भावों की शुद्धि का हो आचरण सुजान॥44॥

अन्वयार्थ–[लौकिकः व्यवहारः] लौकिक व्यवहार [अस्ति] है [तथैव] उसी प्रकार [अलौकिकः] अलौकिक व्यवहार [मतः] माना गया है [निजभावानां] अपने भावों की [शुद्ध्यशुद्धिं] शुद्धि और अशुद्धि की [विवेच्य] विवेचना करके [सदा] सदा [चरेत्] आचरण करें।

अर्थ–जैसे लौकिक व्यवहार है उसी प्रकार ही अलौकिक-व्यवहार है। अपने भावों की शुद्धि और अशुद्धि की विवेचना करके सदा आचरण करें।

विशेषार्थ–व्यवहार तो व्यवहार है। निश्चय नय का लक्ष्य रखकर भी अलौकिक व्यवहार की क्रियाएँ की जाती हैं और लौकिक व्यवहार की क्रिया भी करनी होती है। हे साधक! अपने भावों की शुद्धि और अशुद्धि का विचार करके ही इस व्यवहार में संलग्न होना। जिस लौकिक व्यवहार से अपनी भावशुद्धि बनी रहे वही करना चाहिए।

लौकिक व्यवहार छोड़कर अलौकिक व्यवहार करें

निजात्मालम्बनात्तावत् च्युत्वा हि लौकिकं क्वचित् ।
अनशनादितापेन रुचिमात्मनि वर्धयेत् ।।45।।

दोहा- निज आतम आलम्ब ले तज लौकिक व्यवहार।
अनशनादि तप धार के आतम रुचि उर धार।।45।।

अन्वयार्थ–[तावत्] पहले तो [निजात्मालम्बनात्] निज आत्मा के आलम्बन से [लौकिकं हि] लौकिक व्यवहार को ही [च्युत्वा] छोड़कर [क्वचित्] कभी [अनशनादितापेन] अनशन आदि तप से [आत्मनि] आत्मा में [रुचिं] रुचि [वर्धयेत्] बढ़ानी चाहिए।

अर्थ–अपनी आत्मा का आलम्बन लेकर पहले लौकिक व्यवहार छोड़ना चाहिए। फिर अनशन तप आदि तप के द्वारा अपनी आत्मा में (आत्मा की) रुचि बढ़ानी चाहिए।

विशेषार्थ–वार्तालाप, लेन-देन, परोपकार आदि लौकिक व्यवहार हैं। आत्मेच्छु मनीषी इन लौकिक व्यवहारों से राग, द्वेष की परिणति आत्मा में उत्पन्न नहीं करता है। इसी कारण वह व्यवहार से सुषुप्त होता है। तत्पश्चात् जो भी तप आदि आचरण करता है वह चारित्र की वृद्धि के लिए ही करता है। राग, द्वेष से रहित आत्मा की परिणति ही चारित्र है। तप के द्वारा उस चारित्र की वृद्धि की जाती है। इसी को आत्मरुचि की वृद्धि कहा है। भगवती आराधना में कहा है कि–

'संजममाराहंतो तवो वि आराहिदो होदि' अर्थात्

अर्थात् संयम की आराधना से तप आराधना तो होती है। किन्तु तप आराधना से संयम की आराधना भजनीय है।

अलौकिक व्यवहार करणीय है

जपसिद्धान्तशास्त्राणा-मध्यात्मभावनाजुषाम् ।
अभ्यसनं सदा कार्यं यावन्नात्मनि संस्थितिः ।।46।।

दोहा- अध्यातम से युक्त हो जप श्रुत का अभ्यास।
तब तक तुम करते रहो जब तक ना निज-वास।।46।।

अन्वयार्थ–[अध्यात्मभावना-जुषाम्] अध्यात्म भावना से सहित [जपसिद्धान्तशास्त्राणां] जप और सिद्धान्त शास्त्रों का [अभ्यसनं] अभ्यास [सदा] सदा [कार्यं] करना चाहिए [यावन्] जब तक कि [आत्मनि] आत्मा में [संस्थितिः] समीचीन स्थित न हो जाए।

अर्थ–जाप करना और अध्यात्म भावना से सहित सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययन करना अलौकिक व्यवहार है। यह व्यवहार तब तक करना चाहिए जब तक कि आत्मा में ठहराव न होने लगे।

विशेषार्थ–णमोकार महामंत्र का जप करना एवं श्रीधवला जयधवला, समयसार आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना अलौकिक- व्यवहार है। इसे साधक निरन्तर तब तक करता रहे जब तक कि उसकी आत्मा में प्रगाढ़ स्थिति न बने। णमोकार मंत्र के जाप को भी स्वाध्याय कहा है। जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है–

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा।।80।।

जप करना भी ध्यान का एक अंग है। इसके अतिरिक्त पढ़े हुए का चिंतन करना भी ध्यान के निकट की धारणा है। इस तरह ध्यान-अध्ययन रूप अलौकिक व्यवहार सदैव करणीय है। एकाग्रता का यही साधन है।

शुद्धात्मा की भावना करें

आत्मा ज्ञानदृगात्मा चा-नन्तशक्तिगुणात्मकः ।
कर्म-नोकर्मभिर्न्यूनो नित्यमेवं हि भावयेत् ॥47॥

दोहा-दर्शन ज्ञान स्वरूप से गुण अनन्त पर्याय।
कर्म और नो कर्म से रहित चेतना भाय॥47॥

अन्वयार्थ–[आत्मा] आत्मा [ज्ञानदृगात्मा] ज्ञानदर्शन स्वरूप है [अनन्तशक्तिगुणात्मकः] अनन्त शक्ति आदि गुण स्वरूप है [च] और [कर्म-नोकर्मभिः] कर्म और नोकर्मों से [न्यूनः] रहित [एवं] इस प्रकार आत्मा की [नित्यं] नित्य [हि] ही [भावयेत्] भावना करें।

अर्थ–ज्ञानदर्शनात्मक, अनन्तशक्ति आदि गुण स्वरूप आत्मा है। वह आत्मा कर्म, नोकर्म से रहित है। इस प्रकार नित्य ही भावना करना चाहिए।

विशेषार्थ–आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण ही आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ हैं। शक्ति का चिंतन करने से ही शक्ति प्रकट होती है अन्यथा शक्ति सुषुप्त पड़ी रहती है। कर्म-नोकर्म से रहित शुद्ध आत्मा की भावना और चिंतन शुद्धि को बढ़ाता है। स्वसंवेदन की अनुभूति का पुरुषार्थ अति दुर्लभ है। यह पुरुषार्थ निरन्तर करने योग्य है। जो जैसा चिन्तन करेगा, वैसा ही पाएगा। इस नियम को समयसार में भी कहा है–

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥286॥

अर्थात् शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को पाता है। और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्मा को पाता है।

श्रेष्ठ साधना के लक्षण

ईर्ष्या मानः स्वपूजाशा स्पर्धा न चित्तकल्मषाः ।
चित्ते कस्यापि वार्तातोऽ-मालिन्यं श्रेष्ठसाधना ॥48॥

दोहा- कल्मषता है चित्त की पूजा ईर्ष्या मान।
नहीं मलिनता चित्त में श्रेष्ठ साधना जान॥48॥

अन्वयार्थ–[चित्ते] चित्त में [ईर्ष्या] ईर्ष्या [मानः] मान [स्वपूजाशा] अपनी पूजा की इच्छा [स्पर्धा] स्पर्धा [चित्तकल्मषः] इन चित्तकल्मषों का [न] नहीं होना [कस्यापि] किसी की भी [वार्तातः] वार्ता से [अमालिन्यं] मलिनता नहीं आना [श्रेष्ठसाधना] श्रेष्ठ साधना है।

अर्थ–चित्त में ईर्ष्या, मान, स्व पूजा की आशा और स्पर्धा इन चित्तकल्मषों का नहीं होना तथा किसी की भी बात से मलिनता उत्पन्न नहीं होना साधक की श्रेष्ठ साधना है।

विशेषार्थ–साधक को अपने चित्त की परीक्षा स्वयं करना चाहिए। चित्त की साधना ही श्रेष्ठ साधना है। जिस चित्त में ईर्ष्या, मान, अपनी पूजा की आशा, स्पर्धा ये भाव नहीं होते हैं उसी का चित्त विशुद्ध है और जिसके चित्त में किसी अन्य की बात सुनकर भी मलिनता उत्पन्न नहीं हो वही साधक की श्रेष्ठ साधना की पहचान है।

असत् संकल्प से सत् संकल्प

ममाहं परमात्मत्वं ममाहं ज्ञानमात्मता ।
एवं संकल्प्य चान्यत्र संकल्पं संपरित्यजेत् ॥49॥

दोहा-मेरा मैं परमात्म हूँ मैं आतम मैं ज्ञान।
इस प्रकार संकल्प से तज अन सब कुज्ञान॥49॥

अन्वयार्थ-[ममाहं] मेरा और मैं [परमात्मत्वं] परमात्मत्व है [ममाहं] मेरा और मैं [ज्ञानम्] ज्ञान हूँ [आत्मता] आत्मभाव है [एवं] इस प्रकार [संकल्प्य] संकल्प करके [अन्यत्र च] अन्य स्थानों में हुए [संकल्पं] संकल्प को [संपरित्यजेत्] छोड़ दें।

अर्थ-मेरा परमात्मभाव है, मैं परमात्मत्व हूँ, मेरा ज्ञान है, मैं ज्ञान हूँ, मेरा आत्मत्व है, मैं आत्मत्व हूँ, इस प्रकार के संकल्प करके अन्य स्थानों में हुए संकल्पों को छोड़ना चाहिए।

विशेषार्थ-'पुत्रकलत्रादौ बहिर्द्रव्ये ममेदमिति कल्पना सङ्कल्पः' (द्र. सं.टी. 3/41/166) अर्थात् पुत्र, स्त्री आदि बाहरी द्रव्य में 'यह मेरा है' ऐसी कल्पना संकल्प है। हे मुमुक्षु! तू बाहरी द्रव्य में, पर सम्बन्ध में इस कल्पना को, संकल्प को छोड़ दे क्योंकि यह संकल्प ही विकल्प उत्पन्न कराने वाला है। उसी से मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार हर्ष, विषाद उत्पन्न करने वाले विकल्प उत्पन्न होते हैं। इस तरह संसारी विषयों में संकल्प छूटने पर ही परमात्मा के विषय में संकल्प होता है। यहाँ उसी परम भाव के संकल्प की भावना की प्रेरणा दी है।

मुनि की अलौकिकी वृत्ति

मुनेरलौकिकी वृत्ति-लोकेच्छोलोकरञ्जनी ।
लौकिकी लोकचारार्थं मनसा कार्याऽलौकिकी ॥50॥

दोहा- मुनि को सदा अलौकिकी चर्या करना योग्य।
लोक रंजनी लौकिकी मन से तजने योग्य॥50॥

अन्वयार्थ-[मुनेः] मुनि की [वृत्तिः] वृत्ति [अलौकिकी] अलौकिक होती है [लोकेच्छोः] लोक की इच्छा करने वाले की [लोकरञ्जनी] लोक रंजनी वृत्ति होती है [लोकचारार्थं] लोकाचार के लिए [लौकिकी] लौकिकी वृत्ति होती है [मनसा] मन के द्वारा [अलौकिकी] अलौकिकी वृत्ति [कार्या] करना चाहिए।

अर्थ-मुनि की वृत्ति/चर्या अलौकिकी होती है। जो मुनि लोक/संसार की इच्छा करते हैं उनकी वृत्ति लोक को रंजायमान करने की होती है। अलौकिक वृत्ति वाले मुनि लोकाचार का पालन करने के लिए लौकिकी वृत्ति अपनाएँ किन्तु मन से तो अलौकिकी वृत्ति करना चाहिए।

विशेषार्थ-मन से अलौकिक वृत्ति से तात्पर्य लोकव्यवहार से दूर रहना। मन से लोक व्यवहार नहीं करना। निर्ग्रन्थता तभी आती है अन्यथा बाहरी संकल्प-विकल्पों में ही साधु उलझा रहता है और भीतर से भावशुद्धि से रहित पूरा जीवन व्यतीत हो जाता है। इसी को कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है-

'लोयववहारविरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स' (402)

अर्थात् जो लोकव्यवहार से विरत है उसी के निर्ग्रन्थपना है, मात्र नग्नता से नहीं। आगे वैयावृत्ति तप भी उसी के निर्ग्रन्थपना कहा है जो लोकव्यवहार से दूर है। 'लोयववहार विरदो वेयावच्चं परं तस्स' (460)

चित्तकल्पना किसकी समाप्त होती है

रात्रिस्वप्नवदेवाभूद् दिवास्वप्नप्रभासनम् ।
येषां तेषां हि विश्रान्ता भङ्गुरा चित्तकल्पना ॥51॥

दोहा- निशा स्वप्नवत् क्षणिक हो दिवा स्वप्न अवभास।
क्षणभंगुर मन कल्पना हो विलीन सब आस॥51॥

अन्वयार्थ–[दिवास्वप्नप्रभासनं] दिवा स्वप्न की भासना [रात्रिस्वप्नवत्] रात्रि स्वप्न के समान [एव] ही [येषां] जिनको [अभूत्] हुई हो [तेषां] उनके [हि] निश्चित ही [भङ्गुरा] क्षणभंगुर [चित्तकल्पना] चित्त की कल्पना [विश्रान्ता] समाप्त हो जाती है।

अर्थ–जैसे रात्रि के स्वप्न क्षणभंगुर होते हैं वैसे ही दिवास्वप्न (भावीयोजना) की जिनके अवभासना हुई हो उनके चित्त में क्षणभंगुर चित्त कल्पना विश्रान्त हो जाती है अर्थात् अधिक देर नहीं ठहरती है।

विशेषार्थ–अलौकिक वृत्ति वाले मुनि को जो कि मन से लोकाचार का पालन नहीं करता है उसे दिवास्वप्न भी नहीं आते हैं। अर्थात् दिन में जो अनेक अपने 'अहं' को बढ़ाने वाली कल्पनाएं आती हैं वो भी नहीं होती है। जैसे कि मेरे निमित्त से यह बन जाए, मेरी कृपा से यह हो जाए, मेरे कारण यह योजना बन जाए, इत्यादि दिवा स्वप्न में उसका मन नहीं रमता, कारण कि उसे अपने आत्म तत्त्व में रुचि उत्पन्न हुई है जिससे कि वह पराश्रित, संक्लेश बढ़ाने वाले कार्य करके अपने चारित्र की विशुद्धि को हीयमान नहीं करता है।

तत्त्व स्पर्श की विधि

णमोकारमहामन्त्रै-रर्हद्ध्यानसमाश्रिताः ।
ये भव्यास्तत्त्वसंस्पर्शस्तै-र्नूनं हि कृतः निजे ॥52॥

दोहा- णमोकार के मन्त्र से अरिहन्तों का ध्यान।
करते हैं जो भव्य वे छूते तत्त्व महान॥52॥

अन्वयार्थ–[ये भव्याः] जो भव्यजीव [णमोकारमहामन्त्रैः] णमोकारमहामन्त्र के द्वारा [अर्हद्ध्यानसमाश्रिताः] अर्हन्त देव के ध्यान के आश्रित हुए हैं [तैः] उनके द्वारा [नूनं हि] निश्चित ही [निजे] आत्मा में [तत्त्वसंस्पर्शः] तत्त्वस्पर्श [कृतः] किया गया है।

अर्थ–जो भव्यजीव णमोकारमहामन्त्र के द्वारा अर्हन्तदेव के ध्यान का आश्रय लेते है। उनके द्वारा निश्चित ही अपनी आत्मा में तत्त्व का स्पर्श किया गया है।

विशेषार्थ–णमोकार महामन्त्र का ध्यान पिण्डस्थ रूप में किया जाता है कि नाभि आदि स्थानों पर पंचपरमेष्ठी को दिव्य तेज के साथ रखना। पदस्थ ध्यान के साथ किया जाता है तो अक्षरों का ध्यान करना। रूपस्थ ध्यान के साथ किया जाता है तो उस रूप को ध्याया जाता है और रूपातीत ध्यान के साथ किया जाता है तो केवल आत्म तत्त्व का गुणों के साथ ध्यान किया जाता है। इस तरह अनेक प्रकार से पंचपरमेष्ठी के गुण चिंतन से आत्म तत्त्व का स्पर्श ध्यान में किया जाता है।

आत्मानुभूति की विधि

शुद्धनयफलं बुद्धौ गृहीत्वा कतकं मुदा ।
भेदं कृत्वात्म-विज्ञान-मनुभूतिं मुने! कुरु ॥53॥

दोहा- हे मुनि तू निज बुद्धि में शुद्ध कतक नय लेय।
भेद डाल अन्तर करो आत्म ज्ञान चित देय॥53॥

अन्वयार्थ-[मुने!] हे मुने! [बुद्धौ] बुद्धि में [शुद्धनयफलं] शुद्ध नय के फल रूपी [कतकं] कतक को [मुदा] प्रसन्न होकर [गृहीत्वा] ग्रहण करके [भेदं] अन्तर [कृत्वा] करके [आत्मविज्ञानं] आत्म विज्ञान और [अनुभूतिं] अनुभूति को [कुरु] करो।

अर्थ-हे मुने! शुद्धनय के कतक फल को प्रसन्न होकर बुद्धि में ग्रहण करके भेद करके आत्मविज्ञान और अनुभूति को करो।

विशेषार्थ-शुद्धनय कतक फल की तरह है। इसके प्रयोग से आत्मा और कर्म-नोकर्म में भिन्नता भासित होती है। आत्मा के शुद्ध गुण मात्र पर दृष्टि शुद्ध नय के चिन्तन से आती है। इसलिए हे भव्य! तुम शुद्ध नय के विषय को ग्रहण करके आत्म चिन्तन करो। आत्म तत्त्व की अवधारणा इसी नय के आलम्बन से दृढ़ होती है।

गृहस्थ के लिए प्रेरणा

शुद्धनयफलं बुद्धौ गृहीत्वा कतकं मुदा ।
अस्मादात्मानुभूतिश्च भवेदास्थां गृहिन् कुरु ॥54॥

दोहा-हे गृहस्थ तू बुद्धि से शुद्ध कतक नय लेय।
निज अनुभव इससे मिले ऐसी श्रद्धा लेय॥54॥

अन्वयार्थ-[गृहिन्] हे गृही! [शुद्धनयफलं] शुद्ध नय के फल [कतकं] कतक को [बुद्धौ] बुद्धि में [गृहीत्वा] ग्रहण करके [मुदा] प्रसन्नता से [अस्मात्] इससे [आत्मानुभूतिः च] आत्मानुभूति [भवेत्] होगी [आस्थां] ऐसी आस्था [कुरु] करो।

अर्थ-हे गृहस्थ! शुद्धनय के कतक फल को प्रसन्नता से बुद्धि में ग्रहण करके इससे आत्मानुभूति होती है, इस आस्था को बनाए रखो।

विशेषार्थ-हे सद्गृहस्थ! हे श्रद्धालु! यथा संभव अपने मन को बाहरी विकल्प जालों से हटा कर, मन की गति को रोकते हुए अपनी आत्मा में शुद्ध स्वभाव की भावना निरन्तर भाओ। अपनी आत्मा में शुद्धनय के आश्रित शुद्ध गुणों की अनुभूति करने के लिए रुचि बनाए रखो। इस रुचि से समस्त पर द्रव्यों से, समस्त पर भावों से रहित अपनी शुद्धात्मा की भावना करते रहो।

भेदविज्ञान के भेद

भेदस्य मात्रविज्ञानं भेदविज्ञानमुच्यते ।
भेदं कृत्वात्मविज्ञानं भेदविज्ञानमुच्यते ॥55॥

दोहा- जीव जुदा पुद्गल जुदा भेद ज्ञान कहलात।
जुदा जुदा अनुभूत जस भेद ज्ञान कहलात॥55॥

अन्वयार्थ–[भेदस्य] भेद का [मात्रविज्ञानं] मात्र ज्ञान होना [भेदविज्ञानं] भेदविज्ञान [उच्यते] कहा जाता है [भेदं] भेद [कृत्वा] करके [आत्मविज्ञानं] आत्मा का ज्ञान होना [भेदविज्ञानं] भेदविज्ञान [उच्यते] कहा जाता है।

अर्थ–भेद अर्थात् दो पदार्थों के अन्तर का ज्ञान मात्र होना भी भेद विज्ञान कहा जाता है। तथा भेद करके आत्मा का मात्र विज्ञान (अनुभव) होना भी भेद विज्ञान कहा गया है।

विशेषार्थ–आत्मा और शरीर, कर्म आदि के भेद का विज्ञान हो जाना भी भेद विज्ञान है जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को भी दृढ़ अभ्यास से होता है। इसी अभ्यास से फिर भेद करके आत्मा का मात्र विज्ञान, विशेषज्ञान, ज्ञानानुभूति या आत्मानुभव होना भी भेद विज्ञान है जो त्रिगुप्ति से गुप्त मुनिराज को होता है। यथासंभव एकाग्रता आने से गृहस्थ को भी आनन्दानुभूति होती है। परमशान्ति का अनुभव करने की रुचि जाग्रत होती है।

गृही शुद्धनय का आलंबन ले

शुद्धात्मरुचिवृद्ध्यर्थं भेदविज्ञानवासना ।
गृही व्रती नयं तस्मात् शुद्धांशमवलम्बते ॥56॥

दोहा-शुद्धातम रुचि वृद्धि हो भेदज्ञान का भाव।
भले व्रती हो या गृही शुद्धभाव तो भाव॥56।

अन्वयार्थ–[भेदविज्ञानवासना] भेद विज्ञान का संस्कार [शुद्धात्मरुचिवृद्ध्यर्थं] शुद्धात्मा की रुचि की वृद्धि के लिए है [तस्मात्] इसलिए [गृही व्रती] व्रती गृही [शुद्धांशं] शुद्धांश को ग्रहण करने वाले [नयं] नय का [अवलम्बते] आलम्बन लेता है।

अर्थ–भेद विज्ञान का संस्कार शुद्धात्मा की रुचि की वृद्धि के लिए है इसलिए गृहस्थ या व्रती शुद्धांश को ग्रहण करने वाले शुद्धनय का आलम्बन लेता है।

विशेषार्थ–हे श्रद्धालो! हे सम्यग्ज्ञानी! शुद्धनय से अपनी आत्मा की भावना करने की चेष्टा निरन्तर बनाए रखना। शुद्धनय से अपना आत्मा समस्त पर भावों से रहित मात्र ज्ञायकभाव की रुचि करता है। सिद्ध समान अपने ज्ञान में ज्ञायकभाव का सुख अनुमान करके अनुभूत करने की ललक से कर्म-कालिमा को दूर करता है। यह शुद्धनय जब तक प्रकट न हो अर्थात् शुद्धनय के विषय भूत ज्ञायकभाव की जब तक अनुभूति न हो तब तक शुद्धनय का आलंबन लेकर निरन्तर आत्म भावना करते हुए यथासंभव आत्मध्यान करने की चेष्टा करते रहो।

मोही शुद्धनय नहीं जानता

शुद्धनयस्य माहात्म्य-मेवं जानन्ति नो मुधाः ।
भूतार्थबोधतो दूराः श्रावकाः श्रमणास्तथा ॥57॥

दोहा- महिमा यह नय शुद्ध की नहीं जानते जीव।
दूर सत्य के बोध से श्रावक या यति जीव॥57॥

अन्वयार्थ–[शुद्धनयस्य] शुद्धनय का [माहात्म्यं] माहात्म्य [एवं] इस तरह [मुधाः] मोही जन [नो] नहीं [जानन्ति] जानते हैं [भूतार्थबोधतः] भूतार्थ बोध से [श्रावकाः] श्रावक [तथा] तथा [श्रमणाः] श्रमण [दूराः] दूर हैं।

अर्थ–इस प्रकार का शुद्ध नय का माहात्म्य मोही जन नहीं जानते हैं जिससे श्रावक तथा श्रमण भूतार्थ ज्ञान से दूर हैं।

विशेषार्थ–शुद्धनय के आश्रय से मन संकल्प-विकल्पों के जाल से छूट जाता है। यह पुरुषार्थ जो करता है उसके चित्त के संस्कारों का नाश होता है, उसके बहुतर कर्म की निर्जरा होती है। संक्लेश से बचने का यह एक मात्र सार्थक उपाय है। शुद्ध नय से अपनी आत्मा का चिंतन करने से आत्मभावना बनती है। इस आत्म भावना के बिना कोई श्रावक या श्रमण कितना भी शरीर को कष्ट देकर व्रत, तप आदि का पालन करे किन्तु उसे ध्यान की प्राप्ति नहीं हो पाती है, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि का संस्कार नहीं आता है जिससे मोक्ष लाभ नहीं होता है।

यो ने वेत्ति परं देहादेव-मात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं कृत्वाऽपि परमं तपः ॥ (स.त.33)

शुद्धनय से सम्यक्त्व हमेशा नहीं

यदि शुद्धनयस्यास्ति विषयः केवलात्मनः ।
सम्यक्त्वं तु तदा ब्रूहि प्रवृत्तौ तत्कथं भवेत् ॥58॥

दोहा- शुद्धनीति का विषय है निज आतम सम्यक्त्व।
ध्यान बिना कैसे रहे यदि यह ही सम्यक्त्व॥58॥

अन्वयार्थ- [केवलात्मनः] केवल आत्मा का [विषयः] विषयभूत [शुद्धनयस्य] शुद्धनय का विषय [यदि] यदि [सम्यक्त्वं] सम्यग्दर्शन है [तदा] तो [प्रवृत्तौ] प्रवृत्ति में [तत्] वह [कथं] कैसे [भवेत्] होगा [ब्रूहि] यह बताओ।

अर्थ-केवल आत्मा को विषय बनाने वाले शुद्धनय का विषय यदि सम्यक्त्व है तो यह बताओ कि अनेक भोग-उपभोग आदि की प्रवृत्ति में वह सम्यक्त्व कैसे बना रहेगा?

विशेषार्थ-आत्मा का शुद्धनय से ध्यान करके जो आत्म-प्रतीति होती है वह जो 'समयसार' आदि ग्रन्थों में सम्यक्त्व कहा है उसे हे भव्य! तुम निश्चय सम्यग्दर्शन जानो। यह निश्चय सम्यग्दर्शन तो ध्यान के समय ही होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो श्रद्धा के साथ बना रहता है सो वह श्रद्धा भोग-उपभोग के साथ भी बनी रहती है। अतः हे भव्य! तुम ऐसा मत मानो कि निश्चय सम्यक्त्व ही सम्यक्त्व है। व्यवहार सम्यक्त्व कुछ नहीं है। यदि ऐसा कहोगे तो ध्यान के बिना सर्वकाल व्यवहार सम्यक्त्व भी नहीं रहेगा तो फिर प्रवृत्ति में वह सम्यग्दृष्टि कैसे कहलाएगा?

निश्चयसम्यक्त्व केवलज्ञान का कारण है

परद्रव्यैर्विविक्तं यत् सर्वभावान्तरच्छिदम् ।
सम्यक्त्वं केवलज्ञाने कारणं तन्न संयमे ॥59॥

दोहा-पर द्रव्यों से भिन्न जो सर्व भाव से भिन्न।
वह समकित केवल्य का हेतु न संयम चिह्न॥59॥

अन्वयार्थ–[यत्] जो [परद्रव्यैः] पर द्रव्यों से [विविक्तं] रहित तथा [सर्वभावान्तरच्छिदं] सर्व भावान्तरों से दूर [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है [तत्] वह [केवलज्ञाने] केवलज्ञान में [कारणं] कारण है [न संयमे] संयम में कारण नहीं है।

अर्थ–पर द्रव्यों से रहित तथा समस्त भावान्तरों के विच्छेद से जो अनुभूति है वह सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व केवलज्ञान में कारण है, न कि संयम के लिए कारण है।

विशेषार्थ–पर द्रव्यों से रहित, समस्त भावान्तरों से परे जो आत्मा की अनुभूति है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है, यह निश्चय सम्यग्दर्शन केवलज्ञान का कारण है। कुछ लोग इस निश्चय सम्यग्दर्शन को संयम का कारण कहते हैं जो अनुचित है क्योंकि संयम का कारण व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

गृहस्थों में निश्चय सम्यक्त्व मानने पर दोष

यदि हि स्याद् गृहस्थानां सम्यक्त्वं निश्चयात्मकम् ।
तदा नु केवलज्ञानं तेषु केनातिवार्यते ॥60॥

दोहा- निश्चय का सम्यक्त्व यदि गृही जनों को होय।
तो फिर केवल ज्ञान भी उनमें रोके कोय॥60॥

अन्वयार्थ–[यदि] यदि [गृहस्थानां] गृहस्थों को [निश्चयात्मकं] निश्चयात्मक [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व [स्यात्] होवे [तदानु] तो फिर [तेषु] उन गृहस्थों में [केवलज्ञानं] केवलज्ञान [केन] किससे [अतिवार्यते] रोका जा सकता है।

अर्थ–यदि गृहस्थों को निश्चय सम्यग्दर्शन होता है ऐसा मानें तो फिर उन गृहस्थों में उसी सम्यग्दर्शन से केवलज्ञान की प्राप्ति कौन रोक पाएगा? अर्थात् गृहस्थ अवस्था में ही केवलज्ञान की प्राप्ति का प्रसंग आ जाएगा।

विशेषार्थ–हे गृहस्थ भव्यात्मन्! यदि गृहस्थ को निश्चय सम्यक्त्व होता है तो यह मानना पड़ेगा कि उसे ध्यान भी होगा। फिर निश्चय सम्यक्त्व को केवलज्ञान का कारण कहा है सो गृहस्थों में निश्चय सम्यक्त्व से केवलज्ञान की प्राप्ति का प्रसंग आएगा फिर तो श्वेताम्बरों की तरह कपड़े में ही मुक्त होने का प्रसंग आ जाएगा जो अत्यन्त गलत सिद्ध होगा।

निश्चय सम्यक्त्व होना साधु को कहा है

यस्मिंश्च सुस्थितः साधुः प्राप्नुयात् केवलं वरम् ।
तन्निश्चयात्मसम्यक्त्वं ब्रुवन्ति सूरिणः सदा ॥61॥

दोहा- जिसमें संस्थित होय के साधू केवल ज्ञान।
प्राप्त करे वह ही कहा निश्चय सम्यक् ज्ञान॥61॥

अन्वयार्थ–[यस्मिन् च] जिसमें [सुस्थितः] अच्छी तरह स्थित हुआ [साधुः] साधु [वरं] उत्कृष्ट [केवलं] केवलज्ञान [प्राप्नुयात्] प्राप्त कर सके [तत्] वह [निश्चयात्मसम्यक्त्वं] निश्चयात्मक सम्यग्दर्शन [सदा] सदा [सूरिणः] आचार्य [ब्रुवन्ति] कहते हैं।

अर्थ–जिसमें अच्छी तरह स्थित हुआ साधु उत्कृष्ट केवल-ज्ञान प्राप्त कर ले वह निश्चय सम्यग्दर्शन है ऐसा सदा आचार्य कहते हैं।

विशेषार्थ–ध्यान मुख्य रूप से श्रेणी में होता है। श्रेणी में ही निश्चय सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय निश्चय रूप होता है वही निश्चय रत्नत्रय केवलज्ञान का कारण कहा है। उस एकाग्रता को प्राप्त श्रमण ही मुख्यतया श्रामण्य कहा है। वह श्रमण ही इस ध्यान की एकाग्रता से कैवल्य को प्राप्त करता है। ऐसा सभी आचार्यों का कथन है।

दंसणणाणचरित्तेसु तिसु ति जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ॥

(प्र.सा. 276)

अर्थ–रत्नत्रय में एकाग्रता को प्राप्त हुआ जो श्रमण एक साथ उपस्थित होता है वही एकाग्र है उसी को श्रामण्य सकल कर्म की निर्जरा का कारण होने से परिपूर्ण है।

पारिणामिकी परिणति ध्यानगम्य

परिणतिर्मता नित्यं ध्यानगम्या हि केवलम् ।
द्रव्यार्थिकनयैश्चिन्त्या सा मता पारिणामिकी ॥62॥

दोहा- पारिणामिकी परिणती ध्यान गम्य ही जान।
द्रव्यार्थिक नय से वही कहलाती है ध्यान॥62॥

अन्वयार्थ–[द्रव्यार्थिकनयैः] द्रव्यार्थिक नयों के द्वारा [चिन्त्या] चिन्तनीय [परिणतिः] परिणति [नित्यं] नित्य [हि] ही [केवलं] केवल [ध्यानगम्या] ध्यानगम्य [मता] मानी गयी है [सा] वह ही [पारिणामिकी] पारिणामिकी परिणति [मता] मानी गई है।

अर्थ–द्रव्यार्थिक नयों के द्वारा चिन्तन योग्य परिणति सदा ही केवल ध्यानगम्य है और वह ही पारिणामिकी मानी गई है।

विशेषार्थ–द्रव्यार्थिक नय अनेक प्रकार के हैं। उनके द्वारा आत्मतत्त्व का जो चिन्तन किया जाता है वही चिन्तन शुद्ध तत्त्व के ध्यान योग्य बन जाता है। द्रव्यार्थिक नय से आत्मा का चिन्तन इसलिए ध्यान का विषय है और उसी ध्यान में आत्मा के परम पारिणामिक भाव का आलंबन लिया जाता है।

गृहस्थों में आत्मप्रत्यक्ष ध्यान नहीं

ध्यानहीना गृहस्थास्ते कथं तस्याः समाश्रयात् ।
स्वात्मलाभं समाप्नुयुः कथं स्वस्थाश्च सम्मताः ॥63॥

दोहा- आत्मध्यान से रहित है गृही जनों का ध्यान।
आत्म लाभ हमको हुआ स्वस्थ नहीं वे जान॥63॥

अन्वयार्थ–[ते] वे [गृहस्थाः] गृहस्थ [ध्यानहीनाः] ध्यान रहित होते हैं [कथं] फिर कैसे [तस्याः] उस पारिणामिकी परिणति के [समाश्रयात्] आश्रय से [स्वात्मलाभं] स्वात्मलाभ को [समाप्नुयुः] प्राप्त करेंगे [स्वस्थाः च] वे फिर स्वस्थ [कथं] कैसे [सम्मताः] माने जा सकते हैं।

अर्थ–गृहस्थ की अवस्था ध्यान रहित होती है फिर कैसे वह ध्यान-गम्य पारिणामिक भाव के आश्रय से उन्हें स्वात्मलाभ की प्राप्ति हो सकेगी और वे स्वस्थ हैं, यह कैसे माना जा सकता है?

विशेषार्थ–गृहस्थ को अपने गृह कार्यों के कारण उनकी चिन्ता से चित्त में सदा विक्षेप बना रहता है। किन्हीं-किन्ही गृहस्थों की मनोदशा अनेक प्रकार के विकल्पों से, विक्षेपों से रहित कुछ मन्द हो सकती है। गृहस्थ को थोड़ी देर के लिए कुछ शान्ति होना ध्यान की प्रारम्भिक भूमिका है। ध्यान की जिस अवस्था में चित्त की अत्यन्त एकाग्रता होती है और उस एकाग्रता से मन सूक्ष्म आत्म तत्त्व का ध्यान कर सके ऐसी स्थिति गृहस्थ की संभव नहीं है। वह परम पारिणामिक भाव भी ध्यान अवस्था में संयतों के लिए भी किंचित् संवेद्य है। इसलिए मुझे आत्म प्रत्यक्ष हुआ है या मैं अपनी स्वात्मा में बहुत देर स्थित रहता हूँ, ऐसा मानना या कहना ही भ्रम है। गृहस्थ को धर्मध्यान होता है किन्तु निर्विकल्प आत्मध्यान नहीं होता है। यह तात्पर्य है।

निश्चयसम्यग्दर्शन के दूसरे नाम

परमार्थेन सम्यक्त्वं निश्चयं जायते तराम् ।
शुद्धोपयोगनामास्ति स्वात्मज्ञानं च तन्मतम् ॥64॥

दोहा-जो निश्चय सम्यक्त्व है परमारथ तन्नाम।
वही शुद्ध उपयोग है आत्म ज्ञान भी नाम॥64॥

अन्वयार्थ–[परमार्थेन] परमार्थ से [सम्यक्त्वं] सम्यग्दर्शन [निश्चयं] निश्चय रूप [जायते तराम्] उत्पन्न होता है [शुद्धोपयोगनामास्ति] शुद्धोपयोग नाम वाला है [च] और [स्वात्मज्ञानं] स्वआत्मज्ञान [तत्] वह [मतम्] माना गया है।

अर्थ–परमार्थ से जो सम्यग्दर्शन है वह निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। वह ही शुद्धोपयोग नाम वाला और वह ही स्वआत्मज्ञान माना गया है।

विशेषार्थ–जो परमार्थ से है वह आत्मगत है। वही पर द्रव्य, पर भाव की अपेक्षा रहित होने से निश्चय है। उस सम्यग्दर्शन में आत्मा का दर्शन, ज्ञान शुद्ध संवेदन में आता है। आत्मा का अनन्य परिणाम उपयोग है। वह उपयोग जब कषाय भावों से रहित मात्र अपने उपयोग स्वरूप का अनुभव करे तो वह शुद्ध उपयोग है। उसी उपयोग में जो आत्मा का ज्ञान अनुभव में आए वह आत्मज्ञान है। इसलिए जो आचार्य अमृतचन्द्र जी समयसार कलश में कहते हैं कि वह शुद्ध नय की अनुभूति ही आत्मानुभूति है वही ज्ञानानुभूति है। परमार्थ से वही सम्यग्दर्शन है।

आत्मज्ञान के लिए प्रत्यन करें

तदात्मज्ञानभावार्थं मुनि-गृही यतेत च ।
ज्ञानाकारे निजं ज्ञानं मुहुर्मुहुश्च योजयेत् ॥65॥

दोहा- आत्म ज्ञान के अर्थ ही गृही श्रमण का यत्न।
ज्ञान रूप निज ज्ञान में बार-बार हो यत्न॥65॥

अन्वयार्थ–[मुनिः] मुनि [गृही च] और गृही [तदात्मज्ञान-भावार्थं] उस आत्मज्ञान के भावों के लिए [यतेत] यत्न करें [ज्ञानाकारे] ज्ञानाकार में [निजं ज्ञानं] अपने आत्म ज्ञान को [मुहुः मुहुः] बार-बार [योजयेत्] जोड़ें।

अर्थ–मुनि और गृहस्थ उन आत्म ज्ञान के भावों के लिए प्रयत्न करें। इसके लिए ज्ञानाकार में अपने आत्मज्ञान को बारम्बार लगाएँ।

विशेषार्थ–जिसे अपने आत्मा का श्रद्धान होगा वह चाहे गृहस्थ हो या मुनि हो, आत्मज्ञान के लिए ही सभी प्रयत्न करता है। समस्त धर्म क्रियाएँ आत्मज्ञान के बिना व्यर्थ हैं। जो मनुष्य आत्मा की इच्छा नहीं करता और भले ही समस्त पुण्य क्रियाओं को करता है तो भी वह संसारी ही बना रहता है, मुक्त नहीं हो पाता है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो॥

(भा.पा. 86)

अपने ही ज्ञानाकार में अपने ही आत्मज्ञान को जोड़ने का पुरुषार्थ समीचीन पुरुषार्थ है। यही योग है। यही शुद्ध क्रिया है। यही परमार्थ है। यही निश्चय है। यही ध्यान है। यही सम्यग्ज्ञान है। यही सम्यग्दर्शन है। यही सम्यक् चारित्र है।

परस्पर विपरीत आभास

एकतः स्वात्मविश्रामः एकतो देहविश्रमः।
एकतो विभ्रमो मोहा-देकतो ज्ञानविग्रहः॥66॥

दोहा- एक ओर निज छाँव है एक ओर सुख देह।
एक ओर विभ्रम महा एक ओर बुध देह॥66॥

अन्वयार्थ–[एकतः] एक ओर [स्वात्मविश्रामः] अपनी आत्मा में विश्राम [एकतः] एक ओर [देहविश्रमः] देह का विशेष श्रम [एकतः] एक ओर [मोहात्] मोह से [विभ्रमः] विभ्रम है [एकतः] एक ओर [ज्ञानविग्रहः] ज्ञान शरीर है।

अर्थ–एक ओर अपनी आत्मा में विश्राम है, एक ओर देह का श्रम है, या देह में रुकना है। एक ओर मोह के कारण विभ्रम है तो एक ओर ज्ञान- शरीर है।

विशेषार्थ–पूर्व श्लोक में कहे गृही और यति को आत्मा की भावना होने पर जब वह बाहर आता है तो उसे कुछ इसी तरह की विचित्र अनुभूतियाँ होती हैं। वह विचार करता है कि कहाँ तो अपनी आत्मा में विश्राम का निर्विकल्प सुख और कहाँ यह शरीर के श्रम में सुखाभास। कहाँ तो एक ओर ज्ञानशरीरी आत्मा का ज्ञान और कहाँ यह दूसरी ओर मोह का विलास, मोह का भ्रम।

रुचि के अनुसार आभास

एकतः शाश्वतं सौख्य-मन्यतः सौख्यवासना।
एकतः केलिरात्मज्ञे परतो देहकामना॥67॥

दोहा- शाश्वत सुख इक ओर है सौख्य वासना अन्य।
आत्म केलि इक ओर है देह कामना अन्य॥67॥

अन्वयार्थ–[एकतः] एक ओर [शाश्वतं सौख्यं] शाश्वत सुख [अन्यतः] दूसरी ओर [सौख्यवासना] सुख की वासना [एकतः] एक ओर तो [आत्मज्ञे] आत्मज्ञान में [केलिः] क्रीड़ा [परतः] दूसरी ओर [देहकामना] शरीर की कामना है।

अर्थ–एक ओर तो शाश्वत सुख दिखता है तो दूसरी ओर सुख की वासना है। एक ओर तो आत्मा के ज्ञान में रमण और दूसरी ओर देह की कामना।

विशेषार्थ–हे मुमुक्षो! अगर तू संसार की ओर दृष्टि डालेगा तो तुझे संसार सुख की वासना उत्पन्न होगी यदि तू अपने चैतन्य परिणाम को देखेगा तो तुझे शाश्वत सुख दिखेगा। संसार सुख देहाश्रित है इसलिए उस सुख में देह की कामना है और शाश्वत सुख आत्माश्रित है, उसके लिए ज्ञान स्वभाव में रमण करना होता है। अपनी रुचि जिधर चाहे उधर बढ़ा ले।

जो चित्त में होगा वही मिलेगा

एतयोर्वर्तते यत्र भव्य! चिन्ता च चेतसि।
तदेव वर्धते नित्यं या वाञ्छा सा समाप्यते॥68॥

दोहा-इन दो में तव चित्त की चिन्ता रहती यत्र।
वही बढ़े इच्छा जहाँ वस्तु प्राप्त हो तत्र॥68॥

अन्वयार्थ–[भव्य!] हे भव्य! [एतयोः] इन दोनों में [यत्र] जहाँ [चेतसि] चित्त में [चिन्ता] चिन्ता [वर्तते] रहती है [तदेव] वह ही [नित्यं] नित्य [वर्धते] बढ़ती है [या वाञ्छा] जो इच्छा होती है [सा] वह ही [समाप्यते] प्राप्त होती है।

अर्थ–श्लोक 66-67 में बनाए गए दोनों पहलुओं में हे भव्य! चित्त में जिस विषय की ज्यादा चिन्ता रहती है उस विषय की ही वृद्धि होती है क्योंकि यह नियम है कि जो इच्छा होती है वही वस्तु प्राप्त होती है।

विशेषार्थ–आत्म भावना करने वाले को दोनों तरह की अनुभूति होती है किन्तु जिस ओर चित्त की चिन्ता बढ़ती है उसी ओर अनुभव की वृद्धि होती है। सत्य बात है कि जिस प्रकार की इच्छा होगी वही वस्तु की प्राप्ति होती है।

समता की परीक्षा

सुखे सौख्यमसौख्यं च दुःखे हि यावदात्मनि।
समतैकानुभूतिर्न मुने! तावन्निजात्मनि॥69॥

दोहा- सुख में सुख ही भासता दुःख में होता त्रस्त।
समझो मुनि निज आत्म में समता रवि है अस्त॥69॥

अन्वयार्थ–[मुने!] हे मुने! [यावत्] जब तक [आत्मनि] आत्मा में [सुखे] सुख में [सौख्यं] सुख [च] और [दुःखे] दुःख में [असौख्यं] दुःख [हि] ही होता है [तावत्] तब तक [निजात्मनि] निज आत्मा में [समतैकानुभूतिः] समता की एक मात्र अनुभूति [न] नहीं होती है।

अर्थ–हे मुने! जब तक आत्मा में सुख में सुख और दुःख में दुःख ही होता है तब तक निज आत्मा में समता की एक मात्र अनुभूति नहीं होती है।

विशेषार्थ–बाहरी सुख में सुख मानना सातावेदनीय कर्म के फल को अच्छा मानना है और बाहरी दुःख में दुःखी होना असाता वेदनीय कर्म के फल को बुरा मानना है। जब तक कर्म के फल में ऐसी विचारधारा है तब तक तेरी आत्मा में न तो समता है और न कर्म फल से परे आत्म दृष्टि।

समता के बिना क्षमादि कहाँ

कुतोऽस्ति रे क्षमाधर्मः चित्तैकाग्र्यमतः कुतः।
कुतो ध्यानं कुतो जापः श्रामण्यभावना कुतः॥70॥

दोहा-क्षमा धर्म कैसे रहे कहाँ चित्त एकाग्र।
कहाँ ध्यान वा जाप हो कहाँ श्रमण सम पात्र॥70॥

अन्वयार्थ–(रे) अरे! [क्षमाधर्मः] क्षमाधर्म [कुतः अस्ति] कैसे हो [अतः] इसलिए [चित्तैकाग्र्यं] चित्त की एकाग्रता [कुतः] कैसे हो [कुतः] कैसे [ध्यानं] ध्यान हो [कुतः] कैसे [जापः] जाप हो [श्रामण्यभावना] श्रामण्य भावना [कुतः] कैसे हो?

अर्थ–जिसके चित्त में समता नहीं हो उसके चित्त में क्षमा धर्म कैसे हो? क्षमा नहीं तो चित्त की एकाग्रता कैसे हो? चित्त की एकाग्रता के अभाव में ध्यान कैसे हो, जप कैसे हो? और श्रामण्य की भावना कैसे हो?

विशेषार्थ–हे ज्ञानी आत्मन्! यदि तेरे चित्त में समता नहीं है तो तुझे खुद महसूस होगा कि बाहरी अनुकूलताओं पर प्रसन्नता और बाहरी प्रतिकूलताओं में खेद-खिन्नता हो जाती है। ऐसी स्थिति में तेरे चित्त में क्षमा कहाँ? क्षमाभाव के बिना चित्त की स्थिरता कैसे हो? चित्त की स्थिरता के बिना श्रामण्य कहाँ बनेगा? आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि 'एयग्गदो समणो' अर्थात् श्रमण वही है जो एकाग्रता को धारण करता है। विक्षिप्त चित्त वाला श्रमण नहीं है अर्थात् साधक नहीं है।

मानादि छोड़ने का साहस करो

मा भैषीस्त्यज्यतां नित्यं मनोवाक्कायदाढ्र्यतः।
मान-मात्सर्य-मायोत्थ-कल्पना लोकरञ्जना॥71॥

दोहा- वचन काय मन दृढ़ बना डरो नहीं हित हेत।
कपट मान की कल्पना तजो लोक सुख खेत॥71॥

अन्वयार्थ–[लोकरञ्जना] लोक को रञ्जायमान करने वाली [मान-मात्सर्य-मायोत्थकल्पना] मान, मात्सर्य और माया से उत्पन्न होने वाली कल्पना [नित्यं] नित्य [मनोवाक्कायदाढ्र्यतः] मन-वचन-काय की दृढ़ता से [त्यज्यतां] छोड़ देना चाहिए [मा भैषीः] तुम इसमें डरो मत।

अर्थ–हे भव्यात्मन्! तुम डरो मत। लोक को खुश करने वाली मान, मात्सर्य और माया से उत्पन्न होने वाली कल्पनाओं को मन, वचन, काय की दृढ़ता से छोड़ देना चाहिए।

विशेषार्थ–लोक लुभावनी वृत्ति अपनाने वाला श्रमण नहीं होता है। उसके लिए अनेक अज्ञानी, दम्भी, ढोंगी साधु ही बहुत हैं। तू धर्मप्रभावना की आड़ लेकर, इस एक बहाने से अपनी कषायों को मत बढ़ा। तू स्वयं अपने मन से पूछ कि तेरे मन का मान, मात्सर्य भाव तुझे कुछ करने के लिए प्रेरित करता है या धर्म प्रभावना का बहाना।

शरीर की नग्नता पर्याप्त नहीं

नालं नाग्न्यं शरीरस्य स्वात्मानुभूतये मतम्।
विकारो विद्यते चित्ते देहदण्डेन किं भवेत्॥72॥

दोहा-देह नग्नता ही नहीं मुनि मानो पर्याप्त।
यदि विकार है चित्त में देह दण्ड की बात॥72॥

अन्वयार्थ–[स्वानुभूतये] स्वानुभूति के लिए [शरीरस्य] शरीर की [नाग्न्यं] नग्नता [अलं न] पर्याप्त नहीं [मतम्] मानी गई है [चित्ते] चित्त में [विकारः] विकार [विद्यते] रहता है तो [देहदण्डेन] देह के दण्ड से [किं भवेत्] क्या होगा?

अर्थ–स्वानुभूति के लिए शरीर की नग्नता पर्याप्त नहीं मानी गई है क्योंकि चित्त में जिसके विकार रहता है उसको केवल देह को पीड़ित करने से क्या होगा?

विशेषार्थ–निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने मात्र से स्वानुभूति नहीं होती है। स्वानुभूति तो अभ्यन्तर ममत्व आदि विकार के अभाव में प्राप्त होती है इसलिए उसी चित्त की शुद्धि के लिए प्रयास कर।

भोगाकांक्षा को जीतने का अभ्यास

जयेन्नेत्रेन्द्रियं भावै-र्वनितानवलोकनात्।
जयेज्जिव्हेन्द्रियं भोज्यै रसवर्ज्यैः स्वभावनात्॥73॥

दोहा- वनिता लोकनसे बचो नेत्रेन्द्रिय की जीत।
रस वर्जित भोजन करो रसना की है जीत॥73॥

अन्वयार्थ–[वनितानवलोकनात्] वनिता को नहीं देखने से [भावैः] भावों के द्वारा [नेत्रेन्द्रियं] नेत्रेन्द्रिय को [जयेत्] जीतें [रसवर्ज्यैः] रस रहित [भोज्यैः] भोजन के द्वारा [स्वभावनात्] स्व भावना से [जिव्हेन्द्रियं] जिव्हा इन्द्रिय को [जयेत्] जीतें।

अर्थ–वनिता को नहीं देखना, इस हेतु से भावों के द्वारा नेत्रेन्द्रिय को जीतें और अपनी भावना से रस रहित भोजन से जिव्हेन्द्रिय को जीतें।

विशेषार्थ–हे श्रमण! तृष्णा को जीतो। तृष्णा की अभिव्यक्ति इन्हीं दो इन्द्रियों के द्वारा जानी जाती है। यदि यह तृष्णा मर गई तो स्वरूप की रुचि होगी अन्यथा स्वरूप की रुचि का अभाव है। इन दो इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करने वाली तृष्णा ही इस लोक और परलोक में बनी रहती है। मन से यह मर गई तो सब मरा, यही नहीं मरी तो कुछ नहीं मरा। इसके मरे बिना अमरत्व की इच्छा मात्र इच्छा ही है। 'भोगायतनं शरीरं' ऐसा कहा है। अर्थात् शरीर ही भोगों का आयतन/स्थान है। दूसरे के शरीर की इच्छा नेत्र इन्द्रिय की भोगाकांक्षा है तो अपने शरीर की इच्छा जिह्वा इन्द्रिय की भोगाकांक्षा है। भोगाकांक्षा वाला जीव सम्यक्त्वी नहीं होता है।

संसार सागर को तैरने वाला कौन?

कामक्रोधादिकल्लोलैः-चित्तमक्षोभमार्णवम्।
भवार्णवं विना नावा प्रोत्तरति न संशयः॥74॥

दोहा- काम क्रोध कल्लोल से जिसका चित्त अक्षुब्ध।
भव समुद्र बिन नाव के तर जाता अविरुद्ध॥74॥

अन्वयार्थ–[कामक्रोधादिकल्लोलैः] काम, क्रोध आदि की तरंगों से [चित्तं आर्णवम्] जिसका चित्त रूपी समुद्र [अक्षोभं] क्षोभ रहित है वह [भवार्णवं] भव समुद्र को [नावा] नाव के [विना] बिना [प्रोत्तरति] पार कर लेता है [न संशयः] इसमें कोई संशय नहीं है।

अर्थ–काम, क्रोध आदि की तरंगों से जिसका चित्त रूपी समुद्र क्षोभ रहित रहता है वह संसार-समुद्र को बिना नाव के तैर लेता है। इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ–संसार को बढ़ाने वाले भाव कषाय भाव है। इन कषाय अध्यवसाय स्थानों से ही तो भाव परिवर्तन होता है। इस भाव परावर्तन को रोकने के लिए समता का भाव धरो। समता से जिसने अपनी कषायों को जीत लिया उसके लिए क्या संसार बचा है? इसलिए कषायों के उद्वेग को मत बढ़ा। जब आज भी ज्ञान, चारित्र प्राप्त करके कषाय बढ़ाएगा तो कषाय भाव को जीतने के लिए फिर कौन-सा पुरुषार्थ बचा? जो पुरुषार्थ अभी तक नहीं किया, वही कर तभी पुरानी कषायों का संस्कार छूटेगा।

पंचमकाल में भी धैर्यधारण करें

हीयमाने बले बुद्धौ दुःषमे दुःखकालके।
चित्तधैर्यं यथाशक्ति धार्यतां सुतपः श्रुतम्॥75॥

दोहा- भले बुद्धि बल हीन हो दुःखमा पंचम काल।
तप श्रुत मन का धैर्य तू धारो शक्ति संभाल॥75॥

अन्वयार्थ–[दुःखकालके] दुःख देने वाले [दुःषमे] पंचम काल में [बुद्धौ] बुद्धि में [बले] बल में [हीयमाने] कमी होने पर [यथाशक्ति] शक्ति अनुसार [चित्तधैर्यं] चित्त में धैर्य [सुतपः श्रुतं] श्रेष्ठ तप और श्रुतज्ञान [धार्यतां] धारण करना चाहिए।

अर्थ–दुःख देने वाले इस पंचम काल में जब बुद्धि में बल की कमी होती जा रही है तो भी शक्ति-अनुसार श्रेष्ठतप, श्रुतज्ञान और चित्त में धैर्य को धारण करना चाहिए।

विशेषार्थ–पंचम काल में भी बुद्धि, बल की इतनी कमी नहीं हुई है कि हम समता को धारण न कर सकें। समता धारण करना ही परम धैर्य है। यह धैर्य ही तप, ज्ञान आदि की वृद्धि का कारण है। यह धैर्य चित्त का विषय है। भले ही शरीर में शक्ति कम हो पर आत्मज्ञानी को चित्त में धैर्य धारण करने में कोई शक्ति की जरूरत नहीं है। कहा भी है–

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद् यत्तदज्ञता॥

अर्थात्–यदि आप क्लेश को सहन नहीं कर पाने से चिर काल तक घोर तप नहीं कर सकते हो तो कोई बात नहीं किन्तु चित्त से साधने योग्य यदि कषाय शत्रुओं को न जीत सके तो यह तेरी अज्ञानता है।

शुद्ध नय से सम्यग्दर्शन

दर्शनं शुद्धद्रव्यस्य द्रव्येभ्यश्चान्यतः पृथक्।
सम्यक्त्वं भाषितं यत्तत् शुद्धनयेन सम्मतम्॥76॥

दोहा-शुद्ध द्रव्य निज देखना अन्य द्रव्य से भिन्न।
सम्यग्दर्शन है कहा निश्चय नय का चिह्न॥76॥

अन्वयार्थ–[अन्यतः द्रव्येभ्यः] अन्य द्रव्यों से [पृथक्] भिन्न [शुद्धद्रव्यस्य] शुद्ध द्रव्य का [दर्शनं] दर्शन [यत्] जो [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व [भाषितं] कहा गया है [तत्] वह [शुद्धनयेन] शुद्ध नय से [सम्मतं] माना गया है।

अर्थ–समस्त पर द्रव्यों से भिन्न शुद्धात्म द्रव्य का दर्शन जो सम्यग्दर्शन कहा गया है वह शुद्धनय की अपेक्षा से माना गया है।

विशेषार्थ–अध्यात्म ग्रन्थ में शुद्ध नय या निश्चय नय की मुख्यता से कथन होता है। इसलिए अध्यात्म ग्रन्थ की टीकाओं में अपने शुद्धात्म द्रव्य का दर्शन ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

शुद्धनय वाला सम्यक्त्व गृही में कैसे हो?

शुद्धनयेन शुद्धात्मा सिद्धात्मा मन्यते बुधैः।
सम्यक्त्वं च भवेद्व्यक्तं गेहिनां तत्कथं भवेत्॥77॥

दोहा-जो शुद्धातम है वही सिद्धातम तू जान।
शुद्धमयी सम्यक्त्व यह गृहि में कैसे आन॥77॥

अन्वयार्थ–[शुद्धनयेन] शुद्धनय से [बुधैः] बुद्धिमानों ने [शुद्धात्मा] शुद्धात्मा को [सिद्धात्मा] सिद्धात्मा [मन्यते] माना है [च] और [सम्यक्त्वं] वह सम्यक्त्व [व्यक्तं भवेत्] व्यक्त होता है [तत्] वह सम्यक्त्व [गेहिनां] गृहस्थों को [कथं भवेत्] कैसे हो सकता है?

अर्थ–बुद्धिमानों ने शुद्धनय से जो शुद्धात्मा है वही सिद्धात्मा है, ऐसा स्वीकारा है। शुद्धनय से सम्यग्दर्शन व्यक्त/स्पष्ट होता है, ऐसा सम्यग्दर्शन गृहस्थों में कैसे सम्भव है?

विशेषार्थ–पूर्ण शुद्धनय से तो जो सिद्धात्मा है वही शुद्धात्मा है। उस शुद्धात्मा की व्यक्त अवस्था ही शुद्धनय से सम्यग्दर्शन है, ऐसा सम्यग्दर्शन गृहस्थों में हो जावे तो गृहस्थ दशा में ही सिद्धत्व का प्रसंग आ जावे।

एकदेश शुद्ध सम्यक्त्व का आश्रय

एकदेशेन शुद्धेन ध्याने हि वीतरागिणाम्।
सम्यक्त्वं तत्कथं शुद्धं गेहिनां जायते तराम्॥78॥

दोहा-वीतराग मुनिराज को एक देश ही शुद्ध।
ध्यान होय फिर गेहि को कैसे हो वह शुद्ध॥78॥

अन्वयार्थ–[वीतरागिणां] वीतरागी मुनियों को [ध्याने] ध्यान में ही [एकदेशेन शुद्धेन] एकदेश शुद्धनय से [शुद्धं] शुद्ध [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व कहा है [तत्] वह शुद्ध सम्यक्त्व [गेहिनां] गृहस्थों को [कथं जायते तराम्] कैसे होवे?

अर्थ–वीतरागियों को ध्यान में एकदेश शुद्धनय से शुद्ध सम्यक्त्व कहा जाता है वह सम्यक्त्व गृहस्थों को कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ–शुद्धनय से होने वाला शुद्ध सम्यक्त्व तो वीतरागी मुनियों को भी नहीं होता है क्योंकि उन मुनियों का भी वह सम्यक्त्व ध्यान काल में एकदेश शुद्धनय से ही शुद्ध कहा है, सर्वथा नहीं। फिर भला गृहस्थों को शुद्धनय से सर्वथा शुद्ध सम्यक्त्व कैसे हो सकता है?

शुद्धनय की भावना किसलिए है?

सम्यक्त्वं सह रागेण येषां तेषां हि निश्चयम्।
सम्यक्त्वं प्राप्नुयात् तेन शुद्धनयस्य भावना॥79॥

दोहा- राग साथ सम्यक्त्व से निश्चय समकित काज।
करो भावना शुद्ध की शुद्धनीति का राज॥79॥

अनवयार्थ–[येषां] जिनको [रागेण सह] राग के साथ [सम्यक्त्वं] सम्यग्दर्शन है [तेषां] उनको [हि] निश्चय से [निश्चयं सम्यक्त्वं] निश्चय सम्यक्त्व [प्राप्नुयात्] प्राप्त करना चाहिए [तेन] इसलिए [शुद्धनयस्य] शुद्धनय की [भावना] भावना है।

अर्थ–जिनको राग के साथ सम्यग्दर्शन होता है उनको निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त होवे इसलिए शुद्धनय की भावना है।

विशेषार्थ–सराग सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्धनय की भावना से निश्चय या वीतराग सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। इसलिए शुद्धनय के विषयभूत सम्यक्त्व की भावना कही गई है।

शुद्धनय की भावना गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए

भाव्यः खलु नयः शुद्धः स्यात् सम्यग्दृष्टिभिः सदा।
स्थैर्यात् शुद्धे मुनीनाञ्चा-न्येषां स्यात् शुद्धभावना॥80॥

दोहा- सम्यग्दृष्टी जीव को शुद्धनयाश्रित भाव।
थिरता शुद्ध स्वभाव में मुनि का एक स्वभाव॥80॥

अन्वयार्थ–[सम्यग्दृष्टिभिः] सम्यग्दृष्टियों के द्वारा [सदा] सदा [खलु] निश्चय से [शुद्धः नयः] शुद्ध नय [भाव्यःस्यात्] भाने योग्य है [मुनीनां] मुनियों की [शुद्धे] शुद्ध में [स्थैर्यात्] स्थिरता होने से [अन्येषां] अन्यों की [शुद्धभावना] शुद्धभावना [स्यात्] होती है।

अर्थ–मुनियों के लिए शुद्ध में (शुद्धात्म तत्त्व में) स्थिरता होवे इसलिए तथा अन्य गृहस्थों को शुद्ध की भावना होवे इसलिए सम्यग्दृष्टियों को सदा शुद्धनय की भावना करना चाहिए।

व्यवहार सर्वथा हेय नहीं

विषकुम्भैश्च तुषैस्तुल्यं व्यवहारं यमुक्तवान्।
स न हि सर्वथा हेयो निश्चयदृष्टितो मतः॥81॥

दोहा-तुष समान विष कुम्भ सा कहते जो व्यवहार।
नहीं सर्वथा हेय वो निश्चयनय अनुसार॥81॥

अन्वयार्थ–[यं व्यवहारं] जो व्यवहार [विषकुम्भै] विष कुम्भ [च] और [तुषैस्तुल्यं] और तुष के समान [उक्तवान्] कहा गया है [सः] वह [सर्वथा] सर्वथा [हेयः न हि] हेय नहीं है [निश्चयदृष्टितः मतः] निश्चयदृष्टि से माना गया है।

अर्थ–जो व्यवहार विषकुम्भ के समान और तुष के समान (निस्सार) कहा गया है वह निश्चय दृष्टि से वैसा माना गया है इसलिए वह सर्वथा हेय नहीं है।

विशेषार्थ–शास्त्रों में जो व्यवहार नय के विषयभूत व्रत, तप, प्रतिक्रमण आदि क्रिया कलापों को विषकुम्भ के समान या तुष (तृण) के समान कहा है वह सर्वथा एकान्त रूप से नहीं कहा गया है किन्तु अध्यात्म में निश्चय की मुख्यता होने से निश्चय की दृष्टि से वैसा कहा है। शुद्धोपयोगी श्रमण को आत्मरस अमृतकुंभ के समान तृप्तिकारक है। वह रस छूट जाता है इसलिए शुभोपयोग में किए गए प्रतिक्रमण आदि आत्मानुभव रूप अमृतरस की विपरीत दशा का अनुभव होने से विषकुंभ कहे हैं या तुच्छ कहे हैं।

अध्यात्म और आगम की विवक्षा

अध्यात्मस्य विवक्षायां शुभो बन्धस्य कारणम्।
आगमस्य विवक्षायां शुद्धोऽपि बन्धकारणम्॥82॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो शुभ बन्धन का हेतु।
आगम के अनुसार तो शुद्ध बन्ध का हेतु॥82॥

अन्वयार्थ–[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायाम्] विवक्षा में [शुभः] शुभभाव से परिणमन [बन्धस्य] बन्ध का [कारणं] कारण है [आगमस्य] सिद्धान्त की [विवक्षायां] विवक्षा में [शुद्धोऽपि] शुद्धभाव से परिणमन भी [बन्धकारणम्] बन्ध का कारण है।

अर्थ–अध्यात्म विवक्षा में शुभोपयोग बन्ध का कारण है तो आगम विवक्षा से शुद्धोपयोग भी बन्ध का कारण है।

विशेषार्थ–आगम और अध्यात्म की विवक्षा से कथन में अन्तर पड़ता है किन्तु विवक्षा विज्ञों को कोई विरोध नहीं दिखता है। शुभोपयोग को अध्यात्म विवक्षा में बन्ध का करण कहा है और शुद्धोपयोग को मोक्ष का कारण कहा है किन्तु ऐसा एकान्त नहीं है कि शुद्धोपयोग से मोक्ष ही होता है। आगम/सिद्धान्त ग्रन्थों में अष्टम आदि गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोग के साथ बंध होना लिखा है। ग्यारहवें गुणस्थान का शुद्धोपयोग भी मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि उस शुद्धोपयोग से गिरकर जीव पुनः कर्मबन्ध को प्राप्त होता है।

अध्यात्म और आगम विवक्षा में अन्तर

अध्यात्मस्य विवक्षायां हेयौ बन्धास्रवौ मतौ।
आगमस्य विवक्षायां अहेयौ द्वौ कथंचित्तौ॥83॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो आस्रव बन्ध दु हेय।
आगम के अनुसार तो रहे कथंचित् हेय॥83॥

अन्वयार्थ-[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [बन्धास्रवौ] बन्ध और आस्रव तत्त्व [हेयौ] हेय [मतौ] माने गये हैं [आगमस्य] आगम की [विवक्षायां] विवक्षा में [तौ द्वौ] वे दोनों [कथंचित्] कथंचित् [अहेयौ] अहेय हैं।

अर्थ-अध्यात्म की विवक्षा से बन्ध और आस्रव तत्त्व हेय हैं किन्तु आगम की विवक्षा से वे दोनों तत्त्व कथंचित् हेय नहीं हैं।

विशेषार्थ-अध्यात्म ग्रन्थों की टीकाओं में जहाँ सात तत्त्वों में हेय-उपादेयपना कहा जाता है वहाँ आस्रव, बन्ध इन दोनों तत्त्वों को सर्वथा हेय कहा जाता है किन्तु आगम ग्रन्थों की विवक्षा में ये दोनों तत्त्व कथंचित् उपादेय हैं। शुभास्रव और शुभबंध व्रत, तप, सोलह कारण भावनाओं आदि से होता है यह समस्त प्रवृत्ति रूप धर्म आस्रव और बंध का कारण होते हुए भी सर्वथा संसार का कारण नहीं होने से कथंचित् उपादेय है, करणीय है तभी तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों में शुभ अनुष्ठान करने योग्य कहा है।

अध्यात्म और आगम से बंध-निर्जरा

अध्यात्मस्य विवक्षायां व्रतं बन्धस्य कारणम्।
आगमस्य विवक्षायां व्रतं निर्जरकारणम्॥84॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो व्रत बन्धन का हेतु।
आगम के अनुसार तो व्रत निर्जर का सेतु॥84॥

अन्वयार्थ–[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [व्रतं] व्रत [बन्धस्य] बन्ध का [कारणम्] है [आगमस्य] आगम की [विवक्षायां] विवक्षा में [व्रतं] व्रत [निर्जरकारणम्] निर्जरा के कारण हैं।

अर्थ–अध्यात्म की विवक्षा से व्रत बन्ध का कारण कहे हैं किन्तु आगम में व्रतों को निर्जरा का कारण कहा है।

विशेषार्थ–समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों की अपेक्षा से व्रत आदि का भाव शुभ अध्यवसाय है जो अशुभ की तरह बंध का ही कारण है किन्तु श्री धवला आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में "वदं णाम असंखेज्जगुणणिज्जराकारणं" अर्थात् व्रत ही असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा के लिए कारण हैं।

अध्यात्म और आगम विवक्षा में उपादान-निमित्त

अध्यात्मस्य विवक्षायां मुख्योपादानकारणम्।
आगमस्य विवक्षायां मुख्यं निमित्तकारणम्॥85॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो उपादान है मुख्य।
आगम के अनुसार तो है निमित्त भी मुख्य॥85॥

अन्वयार्थ–[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [मुख्योपादानकारणं] मुख्यरूप उपादान कारण है [आगमस्य] आगम की [विवक्षायां] विवक्षा में [निमित्तकारणं] निमित्तकारण [मुख्यं] मुख्य है।

अर्थ–अध्यात्म की विवक्षा में उपादान कारण की मुख्यता है। आगम की विवक्षा में निमित्त कारण की मुख्यता है।

विशेषार्थ–उपादान और निमित्त की अपेक्षा कथन करना अध्यात्म और आगम का अपना-अपना विषय है। इसमें कोई कम ज्यादा नहीं होता है। कोई बलवान अथवा बलहीन नहीं होता है। जो अध्यात्म ग्रन्थ अधिक पढ़ता है वह उपादान पर अधिक जोर डाल कर कथन करता है। निमित्त कारण को गौण या उपचार कह कर झुठला देता है या नगण्य सिद्ध करता है। अनेक प्रवचनकारों ने अपने प्रवचनों में ऐसा ही किया है। जो सिद्धान्त ग्रन्थ अधिक पढ़ता है वह निमित्त पर अधिक जोर डालता है जैसा कि वर्तमान के प्रवचनकारों में दिखाई देता है। वस्तुतः उपादान और निमित्त दोनों की अपनी-अपनी महत्ता है। दोनों की संयोजना से विवक्षा वश कथन करना स्याद्वाद पद्धति है। ये विषय चर्चा और प्रवचन के इतने नहीं हैं जितने समझने और अनुभूत करने के हैं। प्रारम्भ में मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने वाले और मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने वालों के लिए निमित्त की बलजोरी से कमजोर उपादान शक्ति को बढ़ाया जाता है। बाद में पूर्णतः अन्तर्दृष्टि, ध्यान समाधि में लीन होकर आत्मानुभव की दशा को प्राप्त होता है। तब निमित्त कमजोर

और उपादान बलजोर हो जाता है। इस रहस्य को स्वीकार नहीं करने से और न मानने से ही वाक्युद्ध चलता रहता है। 'खानिया जी चर्चा' इसी का परिणाम है जिसका अन्तहीन संवाद कोई निर्णय पर नहीं पहुँच सका। भैया भगवतीदास आदि विद्वानों ने 'उपादान-निमित्त संवाद' कहकर अलग से ग्रन्थ तक लिखे जिसमें निमित्त की हर बात का उत्तर उपादान की बलजोरी से देकर निमित्त को हीन सिद्ध करने का प्रयास किया गया। वर्तमान में उपादानाधीन दृष्टि, निमित्ताधीन दृष्टि इस तरह के शब्दों का बोलबाला है ये दोनों ही दृष्टि निरपेक्ष होने पर कुनय हैं, मिथ्या हैं। वस्तुतः अधीन किसी के भी नहीं होना है। अधीन होना ही एकान्त पंथ का कारण है। भव्य जीव को मोक्षमार्गोपयोगी निमित्तों से अपनी उपादान शक्ति को तौलते रहना चाहिए। असत् निमित्तों को छोड़कर सत् निमित्तों को अच्छी तरह ग्रहण करके ही उपादान दृष्टि को लक्ष्य में रखकर चला जाता है। ऐसा करते-करते पूर्णतया उपादान शक्ति के जाग्रत हो जाने पर निमित्त स्वयं छूट जाते हैं। इस स्याद्वाद कौशल से ही आत्म हित करना चाहिए।

अध्यात्म और आगम विवक्षा

अध्यात्मस्य विवक्षायां सप्तमाद् वीतरागता।
आगमस्य विवक्षाया-मुपशान्तान् मता हि सा॥86॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो अप्रमत्त बिन राग।
आगम के अनुसार तो उपशान्ती बिन राग॥86॥

अन्वयार्थ–[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [सप्तमात्] सप्तमगुणस्थान से [वीतरागता] वीतरागता मानी है [आगमस्य] आगम की [विवक्षाया] विवक्षा में [उपशान्तात्] उपशान्त गुणस्थान से [हि] ही [सा मता] वह वीतरागता मानी है।

अर्थ–अध्यात्म की विवक्षा से अप्रमत्त गुणस्थान से वीतरागता आत्मा में स्वीकारी है। आगम की विवक्षा से ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान से वीतरागता स्वीकारी है।

विशेषार्थ–अध्यात्म ग्रन्थों में ध्यान लीन श्रमण को शुद्धोपयोगी वीतरागी माना है। अध्यात्म ग्रन्थों की टीका से यह अत्यन्त स्पष्ट होता है कि बुद्धि पूर्वक राग का अभाव करके जब श्रमण अन्तर्ध्यान में लीन होता है तो उसे वीतराग कहा जाता है। उस वीतरागता के साथ ही निर्विकल्प समाधि होती है। कहीं अध्यात्म ग्रन्थों में सिद्धान्त की विवक्षा की तरह राग का अभाव होने पर उपशान्त गुणस्थान से भी वीतरागता कही है। किन्तु सिद्धान्त ग्रन्थों में वीतरागता का अर्थ सूक्ष्मराग का अभाव होने पर ही किया है। इसीलिए उपशान्त आदि गुणस्थानों की संज्ञा वीतराग छद्मस्थ उपशान्त कषाय गुणस्थान, वीतराग छद्मस्थ क्षीण कषाय गुणस्थान किया है। वीतराग सम्यग्दर्शन भी श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में ग्यारहवें गुणस्थान से कहा है। 'सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थ-वीतरागयोश्चतुर्दश' ऐसे तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र से भी वीतरागता का अर्थ स्पष्ट होता है।

अध्यात्म और आगम विवक्षा में जिन संज्ञा

अध्यात्मस्य विवक्षायां चतुर्थाज्जिनसंज्ञया।
आगमस्य विवक्षायां केवली प्रोच्यते तथा॥87॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो अविरत भी जिन होय।
आगम के अनुसार तो केवलि ही जिन होय॥87॥

अन्वयार्थ–[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [चतुर्थात्] चतुर्थ गुणस्थान से [जिनसंज्ञया] जिनसंज्ञा से किन्तु [आगमस्य] आगम की [विवक्षायां] विवक्षा में [तथा] जिन संज्ञा से [केवली] केवली [प्रोच्यते] कहे जाते हैं।

अर्थ–अध्यात्म की विवक्षा में जीव चतुर्थ गुणस्थान से जिनसंज्ञा से कहे जाते हैं। किन्तु आगम की विवक्षा में केवली भगवान को जिन कहा जाता है।

विशेषार्थ–मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय को जीत लेने से अध्यात्म ग्रन्थों की टीका में एकदेश जिन संज्ञा अविरत सम्यग्दृष्टि को मिल जाती है किन्तु मूलग्रन्थ जैसे समयसार आदि में तो जिन संज्ञा केवली भगवान की ही है। सिद्धान्त ग्रन्थों की विवक्षा में नियम से जिन संज्ञा केवली भगवान के लिए ही है। 'णमो जिणाणं' इत्यादि सूत्र इसी तथ्य का समर्थन करते हैं।

अध्यात्म और आगम विवक्षा में शुभोपयोग

अध्यात्मस्य विवक्षायां भक्तौ शुभोपयोगिता।
आगमस्य विवक्षाया धर्म्ये शुभोपयोगिता॥88॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो भक्ती शुभ उपयोग।
आगम के अनुसार तो धर्म ध्यान शुभ जोग॥88॥

अन्वयार्थ–[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [भक्तौ] भक्ति में [शुभोपयोगिता] शुभोपयोग कहा जाता है [आगमस्य] आगम की [विवक्षाया] विवक्षा में [धर्म्ये] धर्मध्यान में [शुभोपयोगिता] शुभोपयोग कहा है।

अर्थ–अध्यात्म की विवक्षा में भक्ति आदि में शुभोपयोग है, ऐसा कथन है किन्तु आगम की विवक्षा में तो जब तक धर्मध्यान है तब तक शुभोपयोग है।

विशेषार्थ–इस तरह अध्यात्म और आगम दोनों की विवक्षा में चतुर्थ गुणस्थान से प्रवृत्तिमूलक सप्तम गुणस्थान तक धर्म-ध्यान होना और शुभोपयोग होना सिद्ध है किन्तु आगम की विवक्षा में जब तक निवृत्ति मूलक भी अप्रमत्त गुणस्थान है तब तक धर्मध्यान ही है। अष्टम आदि गुणस्थान में शुक्लध्यान है तभी शुद्धोपयोग होता है। कई सैद्धान्तिक आचार्यों के अनुसार जब तक राग है तब तक शुभोपयोग है और तब तक धर्म ध्यान है। यह धर्म ध्यान और शुभोपयोग दसवें गुणस्थान तक भी माना गया है। यहाँ भक्ति तो उपलक्षण है जिससे चौथे से सप्तम गुणस्थान तक की सभी क्रियाएँ शुभोपयोग में है, ऐसा समझना।

अध्यात्म और आगम की विवक्षा में शुद्ध जीव

अध्यात्मस्य विवक्षायां सर्वे शुद्धाः प्राणिनः।
आगमस्य विवक्षायां सिद्धाः शुद्धाः प्राणिनः॥89॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो सभी जीव हैं शुद्ध।
आगम के अनुसार तो सिद्ध जीव ही शुद्ध॥89॥

अन्वयार्थ–[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [सर्वे प्राणिनः] सभी जीव [शुद्धाः] शुद्ध हैं [आगमस्य] आगम की [विवक्षायां] विवक्षा में [सिद्धाः] सिद्ध [प्राणिनः] जीव [शुद्धाः] शुद्ध हैं।

अर्थ–अध्यात्म की विवक्षा में सभी जीव शुद्ध हैं किन्तु आगम की विवक्षा में सिद्धात्मायें ही शुद्ध हैं।

विशेषार्थ–अध्यात्म में शुद्ध निश्चयनय की प्रधानता से कथन रहता है जो जीव की शक्ति को बताता है इसलिए 'सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया' शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध है, ऐसा कहा जाता है किन्तु आगम/सिद्धान्त ग्रन्थों में जीवात्मा में शुद्धता की पूर्ण अभिव्यक्ति होने पर ही उन्हें शुद्धनय से शुद्ध जीव कहा जाता है।

अध्यात्म और आगम में कर्म निमित्तता

अध्यात्मस्य विवक्षायां जीवेऽकर्मनिमित्तता।
आगमस्य विवक्षायां जीवे कर्मनिमित्तता॥90॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो कर्म रहित है जीव।
आगम के अनुसार तो कर्म निमित्तक जीव॥90॥

अन्वयार्थ–[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [जीवे] जीव में [अकर्मनिमित्तता] कर्मनिमित्तता का अभाव है [आगमस्य] आगम की [विवक्षायां] विवक्षा में [जीवे] जीव में [कर्मनिमित्तता] कर्म की निमित्तता है।

अर्थ–अध्यात्म की विवक्षा में जीव में कर्म का निमित्तपना नहीं स्वीकारा जाता है किन्तु आगम की विवक्षा में जीव में कर्म का निमित्तपना स्वीकारा जाता है।

विशेषार्थ–अध्यात्म में दो द्रव्यों की संयोगज दशा और उससे उत्पन्न भाव, गुणस्थान, मार्गणा आदि शुद्ध निश्चयनय का विषय नहीं होने से उन्हें जीव के नहीं माना गया है किन्तु आगम की विवक्षा में संयोगजदशा और उससे उत्पन्न भाव, गुणस्थान आदि व्यवहारनय का विषय होने से जीव के माना गया है।

अध्यात्म और आगम की विवक्षा में षट्कारिकी क्रिया

अध्यात्मस्य विवक्षायां स्वे हि षट्कारिकी क्रिया।
आगमस्य विवक्षायां उभौ षट्कारिकी क्रिया॥91॥

दोहा- अध्यातम अनुसार तो षट्कारक निज द्रव्य।
आगम के अनुसार तो षट्कारक अन द्रव्य॥91॥

अन्वयार्थ-[अध्यात्मस्य] अध्यात्म की [विवक्षायां] विवक्षा में [स्वे हि] स्व द्रव्य में ही [षट्कारिकी] षट्कारिकी [क्रिया] क्रिया होती है [आगमस्य] आगम की [विवक्षायां] विवक्षा में [उभौ] दोनों द्रव्यों की [षट्कारिकी क्रिया] षट्कारिकी क्रिया है।

अर्थ-अध्यात्म की विवक्षा में स्वद्रव्य में ही छह कारक की क्रिया घटित होती है किन्तु आगम की विवक्षा में दोनों द्रव्यों की छह कारक की क्रिया घटित होती है।

विशेषार्थ-अध्यात्म ग्रन्थों में स्व-स्व द्रव्य में अपने से, अपने लिए, अपने में ही छह कारक घटित होते हैं। कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण से छह कारक हैं। 'एकः परिणमति इत्यादि श्लोक जो समयसार की टीका में आ. अमृतचन्द्र जी ने लिखे हैं वे अध्यात्म की विवक्षा से हैं। इसी कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता, कर्म आदि कुछ सिद्ध नहीं होता है। किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से स्व-पर-दोनों द्रव्यों में कर्ता-कर्म आदि व्यवहार घटित होता है तभी जीव कर्म करता है और कर्म जीव में भाव उत्पन्न करता है। यह सिद्धान्त घटित होता है। आचार्य अमृतचन्द्र जी इसी द्रव्य को 'जीवकृतं परिणामं' इत्यादि पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की कारिका से सिद्ध करते हैं। इसलिए निश्चय षट्कारिकी अध्यात्म की अपेक्षा से और व्यवहार षट्कारिकी आगम की अपेक्षा से जानना।

वर्तमान पर टिकना ध्यान है

भूतस्मृतिश्च बुद्धौ स्याच् चिन्ता वाऽनागतस्य हि।
वर्तमानं द्वयोर्घातात् न पश्येद् ध्यानमन्तरा॥92॥

दोहा- भूतकाल की संस्मृती चिन्ता आगत काल।
ध्यान समय ही नाश से वर्तमान में भाल॥92॥

अन्वयार्थ–[बुद्धौ] बुद्धि में [भूतस्मृतिः च स्यात्] भूतकाल की स्मृति रहती है [वा] अथवा [अनागतस्य] आगामीकाल की [हि] निश्चय से [चिन्ता] चिन्ता बनी रहती है [द्वयोः] इन दोनों के [घातात्] नाश से [ध्यानमन्तरा] ध्यान के बिना कोई [वर्तमानं] वर्तमान को [न हि पश्येत्] नहीं देख सकता है।

अर्थ–बुद्धि में भूत की स्मृति या भविष्य की चिन्ता होती है। इन दोनों चिन्ताओं के नाश से ध्यान के बिना कोई वर्तमान को नहीं देख सकता है।

विशेषार्थ–बुद्धि को वर्तमान पर टिकाना कठिन होता है। यह केवल ध्यान से ही संभव है। ज्ञानोपयोग में न भूतकाल की कोई स्मृति रहे और न आगामी भविष्य की कोई चिन्ता हो, यह ध्यान के समय पर ही संभव है। ध्यान में मन, बुद्धि, आत्मा का ज्ञानोपयोग वर्तमान पर टिक जाते हैं। जब यह अभ्यास हो जाता है तो वर्तमान पर टिकने का समय भी बढ़ता जाता है। मन की परेशानी यही है कि वह या तो पिछली बुरी या अच्छी स्मृतियों को भुला नहीं पाता और न चाहते हुए भी उसी स्मृति (याद) में चला जाता है जिससे किसी भी अच्छी परिस्थिति का वर्तमान में जो आनन्द आना चाहिए वह नहीं आ पाता है। यही बात भविष्य की योजनाओं के बारे में, आगे की फिक्र को लेकर होता है। चिन्ता भूत की होती है फिक्र भविष्य की होती है। इन चिन्ताओं और फिक्र से मुक्ति ध्यान का अभ्यास करने से होती है। जिससे हृदय और मस्तिष्क सम्बन्धी अनेक बीमारियाँ से व्यक्ति सहज ही बच सकता है।

शून्य बुद्धि में सद्विचार आते हैं

यदा हि शान्तचित्तेऽस्मिन् भूतानागतनिर्वृतिः।
शून्यो बुद्धौ तदाऽऽयाति सद्विचारस्य सन्ततिः॥93॥

दोहा- भूतानागत याद बिन चित्त शान्त इक तान।
शून्य बुद्धि में अवतरे सद्विचार सन्तान॥93॥

अन्वयार्थ–[यदा] जब [हि] वास्तव में [अस्मिन् शान्तचित्ते] इस शान्त चित्त में [भूतानागतनिर्वृतिः] भूत और अनागत की निर्वृति (समाप्ति) हो जाती है [तदा] तब [बुद्धौ] बुद्धि में [शून्यः] होता है [सद्विचारस्य] सद्विचार की [सन्ततिः] सन्तति [आयाति] आती है।

अर्थ–जब इस शान्त चित्त में भूत-अनागत विषय की समाप्ति हो जाती है तब बुद्धि में शून्य (खाली स्थान) होता है तभी अच्छे विचार की सन्तति आती है।

विशेषार्थ–वर्तमान पर मन टिकने लगने से जब चित्त शान्त होता है तो भूत और अनागत की चिन्ता-फिक्र दूर हो जाती है। उसी समय पर बुद्धि में शून्य उत्पन्न होता है। अर्थात् मन में थोड़ा अवकाश आता है। तभी सद्विचार की परम्परा प्रारम्भ होती है। चित्त का वर्तमान पर रुक जाना और शान्त होना जब होता है तभी उस चित्त को सद्विचार से भरना चाहिए अर्थात् तभी हृदय में अच्छे विचारों की उत्पत्ति का समय होता है। उस समय मैत्री, करुणा, प्रेम, क्षमा आदि के विचारों से जब मन भरता है तब वह सबके लिए और अपने लिए सुख करता है।

चिन्ता के बिना समय कौन सा

यावत्शून्यस्थितिर्बुद्धौ निर्विचारे सुजाग्रतिः।
तावच्चिन्तां विना नृणां गतः कालोऽनुमन्यते॥94॥

दोहा- निर्विचार जब बुद्धि हो जाग्रत है तब चित्त।
चिन्ता बिन बीता समय वह ही मानो मित्र॥94॥

अन्वयार्थ–[यावत्] जब तक [बुद्धौ] बुद्धि में [शून्यस्थितिः] शून्य स्थिति है [निर्विचारे] निर्विचार हो जाने पर [सुजाग्रतिः] अच्छी जाग्रति रहती है [तावत्] तब तक [नृणां] मनुष्यों का [चिन्तां] चिन्ता के [बिना] बिना [कालः गतः] समय व्यतीत हुआ, ऐसा [अनुमन्यते] माना जाता है।

अर्थ–जब तक बुद्धि में शून्य स्थिति है, निर्विचार हो जाने पर अच्छी जाग्रति रहती है तब तक ही मनुष्यों का समय चिन्ता के बिना गुजरा है, ऐसा माना जाता है।

विशेषार्थ–बुद्धि में भूत-अनागत के विचार का नहीं आना शून्य स्थिति है। उस शून्य स्थिति में यदि अधिक ठहरा जाए तो निर्विचार स्थिति बनी रहती है। विचार रहित उस स्थिति में चित्त अच्छी तरह जाग्रत रहता है। उस समय पर उस चित्त में मोह, अज्ञान का अन्धकार नहीं रहता है, वह जाग्रत स्थिति कहलाती है। यह जाग्रत स्थिति जब तक बनी रहती है तभी तक ही चिन्ता के बिना यह मन है ऐसा माना जाता है। यदि इस स्थिति में अधिक देर रहना संभव न हो तो तब ही मन को पूर्व सूत्र में कहे गए सद्विचारों से भरना चाहिए।

निर्विचार स्थिति में मनः शान्ति

तावदेव मनः शान्ति-र्मनः शुद्धिश्च तावता।
आनन्दश्च तदा लब्धः स्वस्वरूपे रुचिस्तदा॥95॥

दोहा- तब तक ही मन शान्त है तब तक ही मन शुद्धि।
तभी प्राप्त आनन्द हो स्व स्वरूप रुचि बुद्धि॥95॥

अन्वयार्थ–[तावत् एव] तब तक ही [मनः शान्तिः] मन की शान्ति [च] और [मनः शुद्धिः] मन की शुद्धि है [तावता] उसके द्वारा [तदा] तभी [आनन्दः] आनन्द [लब्धः] प्राप्त होता है [तदा] तभी [स्वस्वरूपे] स्वस्वरूप में [रुचिः] रुचि आती है।

अर्थ–जब तक मन की निर्विचार स्थिति है उतने समय तक ही मन की शान्ति होती है और मन की शुद्धि होती है। तभी उतने समय के द्वारा आनन्द प्राप्त हुआ और उतने समय तक ही स्वस्वरूप में रुचि आई, ऐसा समझना।

विशेषार्थ–जब तक मन निर्विचार और शून्य है तब तक ही मनः शान्ति और उतने समय के द्वारा मनः शुद्धि होती है। तभी मन आनन्द को प्राप्त हुआ और तभी मन की स्वस्वरूप में रुचि आई। इसलिए इस निर्विचार स्थिति में अच्छी तरह जाग्रेति अधिक देर तक बनानी चाहिए।

योगी की परम अनुभूति

सर्वशक्तिं स गृण्हाति सूक्ष्मयोगादलौकिकीम्।
अनुभूतिः परा शान्तिः जायते परमात्मनः॥96॥

दोहा- सूक्ष्म योग हों ध्यान में ग्रहण अलौकिक शक्ति।
परमातम की शान्ति में परमातम अनुभूति॥96॥

अन्वयार्थ–[सूक्ष्मयोगात्] सूक्ष्मयोग से [सः] वह योगी [अलौकिकीं] अलौकिक [सर्वशक्तिं] समस्त शक्तियों को [गृण्हाति] ग्रहण कर लेता है तब [परमात्मनः] परमात्मा की [अनुभूतिः] अनुभूति और [परा शान्तिः] उत्कृष्ट शान्ति [जायते] उत्पन्न होती है।

अर्थ–सूक्ष्म योग से वह योगी समस्त अलौकिक शक्तियों को ग्रहण कर लेता है उसे परमात्मा की अनुभूति और उत्कृष्ट शान्ति उत्पन्न होने लगती है।

विशेषार्थ–ध्यान करने से मन, वचन, काय की प्रवृत्ति स्थिर होने लगती है। यह प्रवृत्ति ही योग है। इस योग की सूक्ष्मता ध्यान से होने लगती है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति स्थूलता से सूक्ष्मता के अनुभव पर जब आती है तब परमात्मा की अनुभूति और उत्कृष्ट शान्ति उत्पन्न होती है। परमात्मा का आभास शान्त दशा में ही होता है। मन की आकुलता में, बोलने में और काय से अनेक प्रकार की प्रवृत्ति करने से परमात्मा की अनुभूति नहीं हो सकती है। अपनी आत्मा की उत्कृष्ट शान्ति ही परमात्मा की शान्ति है।

शुद्धोपयोगी योगी

अनाकांक्षस्तदा योगी ज्ञानमात्रानुभूतितः।
पश्येत् शुद्धमुपयोगं स्वोपयोगस्य योगतः॥97॥

दोहा- अनाकांक्ष योगी तभी ज्ञान मात्र अनुभूति।
शुद्ध ध्यान उपयोग में निज उपयोग विभूति॥97॥

अन्वयार्थ–[तदा] तब [योगी] योगी [अनाकांक्षः] इच्छा रहित होता हुआ [ज्ञानमात्रानुभूतितः] ज्ञान मात्र की अनुभूति से [शुद्धं उपयोगं] शुद्ध उपयोग को [स्वोपयोगस्य] अपने उपयोग के [योगतः] योग से [पश्येत्] देखे।

अर्थ–उस समय पर वह योगी अन्य चिन्ता, इच्छाओं से रहित होकर अपने ही उपयोग से अपने ही शुद्ध उपयोग को ज्ञानमात्र की अनुभूति करने से देखता रहे।

विशेषार्थ–अन्य समस्त भावों को छोड़कर, उस सम्बन्धी इच्छा को तजकर योगी उस निर्विचार जाग्रत अवस्था में अपने उपयोग से अपने ही उपयोग को शुद्ध देखे। अपने उपयोग को अपने उपयोग में जोड़ने से उस ज्ञान-मात्र की अनुभूति होगी। वह ज्ञान मात्र ही शुद्ध उपयोग है , उसी की अनुभूति से शुद्ध मात्र उपयोग को देखता रहे। उसे अपने अन्तंरग ज्ञान से प्रत्यक्ष देखे, जाने।

ध्यानाभ्यास योग्यता से

ध्यानाभ्यासेन कस्यैव जायते खलु योग्यता।
चिन्तयामि तदा चिन्ता न स्यात् स्वतः कदाऽपि सा॥98॥

दोहा- किसी किसी को योग्यता, करत ध्यान अभ्यास।
मैं चिन्तन भी कर रहा, यह भी ना आभास॥98॥

अन्वयार्थ–[ध्यानाभ्यासेन] ध्यान के अभ्यास से [कस्यैव] किसी को ही [खलु] वास्तव में [सा योग्यता] वह योग्यता [जायते] उत्पन्न होती है [चिन्तयामि] मैं चिन्तन कर रहा हूँ [तदा] तब [चिन्ता] यह चिन्ता [स्वतः] स्वयं से [न कदापि] कभी भी [न स्यात्] नहीं होती है।

अर्थ–ध्यान के अभ्यास से किसी को ही वह योग्यता उत्पन्न होती है। उस योग्यता में 'मैं चिन्तन कर रहा हूँ', तब यह चिन्ता भी कभी नहीं आती है।

विशेषार्थ–ज्ञान मात्र की अनुभूति करना, शुद्ध उपयोग होना, यह योग्यता ध्यान के अभ्यास से किसी-किसी को ही आती है। उस समय पर 'मैं चिन्तन कर रहा हूँ, या मैं ध्यान कर रहा हूँ' यह चिन्ता या विचार भी नहीं रहता है। स्व से कोई विचार कदापि उस समय उत्पन्न नहीं होता है। जो अभ्यास करेगा उसी को यह अनुभूति होगी। उसी को शुद्धोपयोग होगा। बिना करे किसी को कुछ भी नहीं होगा, यह तात्पर्य है।

भाग्यनिर्माता कौन?

यस्य हस्तं गते जाता शक्तिरेषा स शक्तिमान्।
स्वयं भाग्यस्य निर्माता निर्भयो न स सीदति॥99॥

दोहा- ध्यान शक्ति जिस हाथ में शक्तिमान वह जीव।
निर्माता निज भाग्य का निर्भय रहे सदीव॥99॥

अन्वयार्थ–[यस्य] जिसके [हस्तंगते] हाथ में [एषा शक्तिः] यह शक्ति [जाता] उत्पन्न हुई है [सः शक्तिमान्] वह शक्तिमान् है। [सः] वह [स्वयं] स्वयं [भाग्यस्य] भाग्य का [निर्माता] निर्माता है [निर्भयः] वह निर्भय है [न सीदति] वह कष्ट नहीं उठाता है।

अर्थ–जिसके हाथ में यह शक्ति आ गई है वह शक्तिमान् है। वह स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, वह निर्भय होता है, वह जीव दुःखी नहीं होता है।

विशेषार्थ–ध्यान करने की यह योग्यता जिसके पास आ गई वह अपने पास चिन्ता न करने की शक्ति रखता है। वही वास्तव में शक्तिशाली है, वही अपना भाग्य स्वयं बनाता है, वह निर्भीक होता है, वह कभी दुःखी या खेद-खिन्न नहीं होता है। कभी चिन्ता को अपने पास नहीं भटकने देना, यह बहुत बड़ी मानसिक शक्ति है। इस शक्ति को प्राप्त कर लेने वाला अपने मन का विजेता होता है। वह दुनिया में फिर किसी भी व्यक्ति या वस्तु का गुलाम नहीं होता है।

ध्यानाभ्यासी को लाभ

दुःस्वप्नदुर्विचाराश्च शयने तस्य नो कदा।
सदानन्दः सदा स्वस्थः सदा हृष्टः स दृश्यते॥100॥

दोहा-दुर्विचार दुःस्वप्न वा सोते कभी न आय।
सदानन्द औ स्वस्थ वो हृष्ट सदा ही थाय॥100॥

अन्वयार्थ–[दुःस्वप्नदुर्विचाराः च] दुःस्वप्न और दुर्विचार [तस्य] उस जीव को [शयने] शयन में [कदा नो] कभी नहीं आते हैं [सदानन्दः] वह सदानन्द वाला [सदा] सदा [स्वस्थः] स्वस्थ तथा [सः] वह [सदा] सदा [हृष्टः] प्रसन्न [दृश्यते] दिखता है।

अर्थ–उस ध्यानाभ्यासी को दुःस्वप्न और दुर्विचार भी स्वप्न में कभी नहीं होते हैं। वह सदानन्द, सदा स्वस्थ तथा सदा प्रसन्न दिखाई देता है।

विशेषार्थ–जिसने ध्यान के अभ्यास से उपयोग को शुद्ध किया है उसको शयन अवस्था में भी दुःस्वप्न और दुर्विचार नहीं आते हैं फिर जाग्रत अवस्था की तो बात ही क्या? वह सदा अपने आनन्द में रहता है। सदा स्वस्थ रहता है और सदा प्रसन्न दिखाई देता है। मानसिक रूप से और शारीरिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति ही सदा भीतर से आनन्द की अनुभूति करता है। उसके आनन्द की वह अनुभूति उसके पूरे शरीर पर और मुख पर दिखाई देती है। ध्यान करने वाला या अपने में रहने वाला व्यक्ति उदास नहीं होता है, बोर न होता है और न करता है। उसके पास कोई भी आए और उसे मात्र देखता रहे तो भी बिना कुछ लिए-दिए वह सभी को आनन्दित करेगा, यह योगी की विशेषता होती है।

योगी में अनेक गुणों का वास

मनःस्वास्थ्यं तनुःस्वास्थ्यं दीर्घायु-र्दूरदर्शिता।
गुणाःसर्वे समायान्ति दाक्षिण्यं नम्रता क्षमा॥101॥

दोहा-तन मन की भी स्वस्थता दूरदर्शि दीर्घायु।
क्षमा नम्रता कुशलता गुण सब ही आ जाय॥101॥

अन्वयार्थ–[मनःस्वास्थ्यं] मन की स्वस्थता [तनुः स्वास्थ्यं] शरीर की स्वस्थता [दीर्घायुः] दीर्घायु होना [दूरदर्शिता] दूरदर्शी होना, [दाक्षिण्यं] कुशलता [नम्रता] नम्रता [क्षमा]क्षमा [सर्वेगुणाः] ये सभी गुण उसमें [समायान्ति] आ जाते हैं।

अर्थ–मन की स्वस्थता, शरीर की स्वस्थता, दीर्घायु होना, दूरदर्शी होना, दाक्षिण्य (कुशलता), नम्रता और क्षमा आदि समस्त गुण उस योगी में आ जाते हैं।

विशेषार्थ–जो ध्यान करता है, शुद्ध उपयोग से सहित होता है उसका मन क्रोध, ईर्ष्या, लोभ आदि मानसिक विकारों से रहित होकर स्वस्थ होता है तथा शरीर में वात, पित्त कफ आदि की समानता हो जाने से शरीर स्वस्थ रहता है। साथ ही ध्यान करने वाले योगी की श्वासोच्छ्वास दीर्घ, गहरी, लम्बी होती है जिससे उसकी आयु घात बिना पूर्ण होती है, वह दूरदर्शी होता है अर्थात् उसे आगे होने वाली हानियाँ, विपरीत परिस्थितियाँ पहले से ही प्रतिभासित होने लगती है जिससे उनसे घबराए बिना उन्हें अपनाने का साहस करता है और सफल होता है। उसके दूरदर्शी होने के साथ अनेक तरह की कुशलताएँ, नम्रता, क्षमा आदि गुण भी उसके अन्दर आ जाते हैं।

मुख्य-गौणव्यवस्था

संव्यवहारनिश्चयै-रेवं ज्ञात्वा यथार्थताम्।
प्रतिपदं सुगन्तव्यं मुख्यगौणावलम्बनात्॥102॥

दोहा- निश्चय और व्यवहार के द्वारा जान यथार्थ।
मुख्य गौण आलम्ब से पद-पद करे कृतार्थ॥102॥

अन्वयार्थ–[संव्यवहारनिश्चयैः] संव्यवहार और निश्चय के द्वारा [एवं] इस प्रकार [यथार्थतां] यथार्थता को जानकर [मुख्यगौणावलम्बनात्] मुख्य, गौण के अवलम्बन से [प्रतिपदं] प्रत्येक पद पर [सुगन्तव्यं] अच्छी तरह चलना चाहिए।

अर्थ–समीचीन व्यवहार और निश्चय को जानने वालों के द्वारा इस प्रकार यथार्थता को जानकर कभी मुख्य का, कभी गौण का अवलम्बन लेकर प्रतिपद पर, पद-पद पर अच्छी तरह चलना चाहिए।

विशेषार्थ–व्यवहार और निश्चय की यथार्थता को जानने वाला यथार्थ वस्तु स्थिति का जानकार कहलाता है। कभी व्यवहार मुख्य हो जाता है तो निश्चय-गौण हो जाता है, कभी निश्चय मुख्य हो जाता है तो व्यवहार गौण, इस प्रकार व्यवहार-निश्चय के मुख्य-गौण के आलम्बन से मोक्षमार्ग में पद-पद पर अच्छी तरह चलना चाहिए अर्थात् आगे बढ़ना चाहिए।

कैवल्य प्राप्ति का उपाय

(बसन्ततिलका छन्द)

एवं विबुध्य विविधैश्च नयैः सुबुद्धया
स्वात्मोपयोगशुचिकारणबोधहेतिम्।
तावत्पतेच्चिदि चमत्कृतबोधरूपं
कैवल्यधाम समुदेति निजे न यावत्॥103॥

दोहा- विविध नयों को जानकर ज्ञान छैनि उपयोग।
तब तब आतम पे गिरा ज्ञान उदय का भोग॥103॥

अन्वयार्थ–[एवं] इस प्रकार [विविधैः नयैः च] अनेक नयों के द्वारा [सुबुद्धया] श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा [विबुध्य] जानकर [स्वात्मोपयोग-शुचिकारण- बोधहेतिम्] अपने आत्म उपयोग को पवित्र करने में कारण भूत ज्ञान की छैनी को [निजे चिदे] अपने चैतन्य आत्मा पर [तावत्] तब तक [पतेत्] गिराओ [चमत्कृतबोधरूपं] चमत्कृत ज्ञान रूप [कैवल्यधाम] कैवल्य धाम [यावत्] जब तक [समुदेति न] उदय प्राप्त न हो जाए।

अर्थ–इस प्रकार अनेक नयों के द्वारा श्रेष्ठ बुद्धि से वस्तु स्थिति को या उपयोग के विषय को जानकर स्वात्मा के उपयोग को शुचि बनाने के लिए कारणभूत विवेक ज्ञान की छैनी को अपनी चैतन्य आत्मा पर तब तक पटको जब तक कि चमत्कृत ज्ञान रूप कैवल्य धाम उदित न हो जाए।

ग्रन्थ लिखने का कारण

यद्विज्ञातं गुरो र्वाग्भ्यः श्रुताभ्यासाच्च चिन्तनात्।
तद्धि प्रोक्तं मया भक्त्या प्रवचनस्य नान्यथा॥104॥

दोहा-गुरु वचनों श्रुत ज्ञान से चिन्तन से विज्ञान।
जो पाया वह ही लिखा प्रवचन भक्ति महान॥104॥

अन्वयार्थ-[यत्] जो [गुरोः] गुरु के [वाग्भ्यः] वचनों से [श्रुताभ्यासात्] श्रुत के अभ्यास से [च] और [चिन्तनात्] चिन्तन से [मया] मैंने [विज्ञातं] जाना है [तद्धि] वह ही [प्रवचनस्य] प्रवचन की [भक्त्या] भक्ति से [मया] मेरे द्वारा [प्रोक्तं] कहा गया है [अन्यथा न] अन्य प्रकार से नहीं।

अर्थ-जो कुछ गुरु के वचनों से, श्रुत के अभ्यास से और चिन्तन से मैंने जाना है वही कुछ प्रवचन की भक्ति से मैंने कहा है, अन्य प्रकार से कुछ नहीं कहा है।

विशेषार्थ-हे भव्य! इस ग्रन्थ में कहा हुआ सब कुछ प्रामाणिक है। प्रामाणिकता के गुरूवचन और श्रुत के अभ्यास से किया गया चिन्तन है। इसी चिन्तन से मैंने प्रवचन अर्थात् जिनवचन, जिनवाणी को भक्ति से ओत-प्रोत होकर कुछ लिखा है। मैंने यह कृति भव्यजीवों के हितार्थ संक्षेप में लिखी है। सम्यग्ज्ञान की प्रभावना से और एकान्त आग्रह से शुद्धि दूर हो इस भावना से भी यह कृति रची गई है। इस ग्रन्थ में आगम और अध्यात्म के अलावा कुछ भी नहीं है।

गुरुकृपा की महिमा

विद्यार्णवगुरुर्यस्य कृपया तेन सिंचितः।
प्रणम्यसागरोऽन्योवा किं स्यात् कष्टं महीतले॥105॥

दोहा- विद्या सागर गुरु कृपा से सिंचित जो आत्म।
हो प्रणम्य सागर कोई नहीं कष्ट का काम॥105॥

अन्वयार्थ–[यस्य] जिनका [विद्यार्णवगुरुः] विद्यासागर गुरु है [तेन] उनकी [कृपया] कृपा से [सिंचितः] जो सिंचित है [प्रणम्यसागरः] प्रणम्यसागर हो [वा] या [अन्यः] अन्य हो [महीतले] इस पृथ्वी पर [किं कष्टं स्यात्] क्या कष्ट हो सकता है?

अर्थ–जिनके गुरु संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी हैं और उनकी कृपा से जो सिंचित है फिर चाहे मैं मुनि प्रणम्यसागर होऊँ या कोई अन्य होवे, इस पृथ्वीतल पर उसे क्या कष्ट हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं।

विशेषार्थ–गुरु कृपा से मैंने यह 'उपयोग शतक' रचना की है, इसमें जो कुछ भी कष्ट महसूस नहीं हुआ उसका एक मात्र कारण यह है कि मेरे गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी हैं, जिनकी कृपा से दुष्कर भी सुकर/सरल हो जाता है।

स्थान एवं समय परिचय

हरियाणाप्रदेशेऽस्मिन् वर्षायोगे च विंशके।
रेवाड़ीनगरे पूर्णं कृतं शास्त्रं सुभावतः॥106॥

दोहा-इस हरियाणा प्रान्त में रेवाड़ी शुभ थान।
चतुर्मास है बीसवाँ शास्त्र पूर्ण यूँ जान॥106॥

अन्वयार्थ-[अस्मिन्] इस [हरियाणाप्रदेशे] हरियाणा प्रदेश में [विंशके च वर्षायोगे] बीसवें वर्षायोग में [रेवाड़ीनगरे] रेवाड़ी नगर में [सुभावतः] अच्छे भाव से [शास्त्रं] शास्त्र [पूर्णं कृतं] पूर्ण किया है।

अर्थ-इस हरियाणा प्रान्त के रेवाड़ी नगर में बीसवाँ वर्षायोग करते हुए भाद्रपद कृष्णा छठ, वीर निर्वाण सम्वत् 2543 तदनुसार 13-8-2017 को मैंने शुभभावों से इस शास्त्र को पूर्ण किया है।

मोक्षेच्छु का अकर्तृत्व

शब्दपदसमासैश्च मनोऽभिप्रायतामनु।
रचना जायते कृता न किञ्चिच्च शिवार्थिना॥107॥

दोहा- पद, समास और शब्द से मन भावा अनुसार।
रचना स्वयं हुई सहज मेरा कुछ ना कार्य॥107॥

अन्वयार्थ–[शब्दपदसमासैः च] शब्द, पद, समास के द्वारा [मनोऽभिप्रायतां अनु] मन की अभिप्रायता के अनुसार [रचना] रचना [जायते] होती है [शिवार्थिना] मुझ मुक्ति कामी ने [न च किञ्चिन् कृता] कुछ नहीं किया।

अर्थ–मन के अभिप्राय के अनुसार शब्द, पद, समासों के द्वारा ग्रन्थ रचना हो जाती है, मुझ मुक्ति कामी ने कुछ नहीं किया है।

विशेषार्थ–मन के अभिप्राय का मतलब मनमाने भावों से नहीं किन्तु मन में जो श्रुतज्ञान के निरन्तर चिन्तन से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उससे समझना। जब भाव होते हैं तो शब्द, पद आदि में लिखना बड़ा सहज हो जाता है। आचार्य गुरुदेव की कृपा से जो निरन्तन शास्त्राभ्यास, अनुभूति और लोगों के जो एकान्त अभिप्राय देखने में आते हैं उन सब की सम्यक् संयोजना बूद्धि में होने से रचना स्वयं से आती है। मुझे तो उन शहरों से और कृतित्व से भी क्या मोह करना? क्योंकि मैं तो मोक्षार्थी हूँ। मोक्षार्थी को जड़ पूद्गल शब्दों से क्या प्रयोजन है?

श्लोक पाठ

प्रणिपत्य महावीरं जिनं सर्वार्थदेशकम् ।
उपयोगस्य शुद्ध्यर्थमुपयोगोऽत्र चर्च्यते ॥1॥

आत्मनोऽर्थग्रही चेष्टा उपयोग स उच्यते ।
साकारेतरभेदाच्च द्वेधा हि व्यवतिष्ठते ॥2॥

शुभाशुभं तथा शुद्धं मतमुपयोगचेष्टितम् ।
रागभावैर्द्वयं चाद्यं रागाऽभावेऽन्तिमं विदुः ॥3॥

सम्यक्त्वेन शुभो भावो शुभशुद्धोपयोगयौ ।
मिथ्यात्वेनाशुभश्चापि शुभोऽशुभोपयोगता ॥4॥

अस्मिन् काले हितार्थं नो वर्ततेऽतीवभुक्तिता ।
नितान्ताध्यात्म-मेकान्ते पातयति न विज्ञता ॥5॥

अनेकान्ते चतुर्भित्तौ स्थितानुयोगचतुष्कता ।
प्रासादस्योपरिष्टाद्धि शोभतेऽध्यात्मसानुता ॥6॥

क्षीयमाणस्य देहस्य मात्रमेतद्धि सार्थकम् ।
श्रुताभ्यासो व्रतं ध्यानं राग-द्वेष विवर्जनम् ॥7॥

भोजने शयने चैव संपरीक्ष्य मुमुक्षुभिः ।
निजभावोत्थसङ्कल्पात् निजं चित्तं च शुध्यते ॥8॥

निश्चयेन नयेन यः पदार्थं वेत्ति मूलतः ।
द्रव्यस्य दशां शुद्धा-मसंयुक्तां तथाऽन्यतः ॥9॥

जीवास्त्वनादिमिथ्यात्वाद् देहमात्मैव मन्वते ।
देहेऽस्मिन्नात्मबुद्धिस्तु नयद्वयैश्च हन्यते ॥10॥

जीवेन न कदा ज्ञात आत्मा द्रव्यकर्मतः ।
अशुद्धः शुद्ध एकान्ताद् विज्ञातस्तेन संसृतिः ॥11॥

ततो ज्ञानेन निर्णीय श्रद्धाय परिभावयेत् ।
निजात्मनः स्वभावं तु कर्म-नोकर्मवर्जितम् ॥12॥

निश्चयेनात्मरूपं तु लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तयेत् ।
दृग्ज्ञानवृत्तमार्गेऽस्मिन् निश्चयव्यवहारके ॥13॥

निश्चयं नयमेवं तु विज्ञाय स्वानुभूतये ।
यतन्ते व्यवहारेऽपि निश्चयज्ञास्तु ते मताः ॥14॥

निश्चयं खलु ज्ञात्वा ये व्यवहारात् पराङ्मुखाः ।
ते कदा प्राप्नुवन्ति न जिनस्य देशनाफलम् ॥15॥

निश्चयं खलु ज्ञात्वा ये व्यवहारात् पराङ्मुखाः ।
ते सदा प्राप्नुवन्ति हि जिनस्य देशनाफलम् ॥16॥

निश्चयोऽपि मतो द्वेधा ज्ञानादनुभवात्मकात् ।
ज्ञानं ह्यनुभवो येषां तेषां बुद्धौ कदाग्रहः ॥17॥

ज्ञानेन ज्ञायते यत्त-दुपायेनानुभूयते ।
यथा दुग्धे घृतज्ञानं घृताप्तावनुभूयते ॥18॥

उपायेऽनादरा दृष्टि-रुपादेये सदादरः ।
आप्नुवन्ति कथं मूढाः सानुं श्रेण्या विना गिरेः ॥19॥

तत्त्वं सुविज्ञ! श्रद्धाय विज्ञाय शुद्धदृष्टितः ।
स्वस्वभावाप्त्युपाये त्वं दृष्टिं कुरु समादरात् ॥20॥

बाह्यादभ्यन्तराद् भेदा-दुपायौ द्विविधौ मतौ ।
बाह्यस्तु पात्रवद् बाह्य-मन्तरङ्गोऽन्तरेऽग्निवत् ॥21॥

यथात्मा कर्मभिर्बद्धः संश्लेषेण निमित्ततः ।
तथोपादानके हेतोर्ध्यानादेः श्लिष्टता मता ॥22॥

श्रद्धानात् सम्प्रतीतिः स्याद् गुणस्थाने चतुर्थके।
तस्मादनुभवः क्रमात् सप्तमे चाष्टमादिके॥23॥

सप्त-तत्त्वार्थविश्वासः सम्यक्त्वं व्यवहारतः ।
आसप्तमान्निजं वेत्ति तत ऊर्ध्वं सुनिश्चयात् ॥24॥

विधेरुपशमात् क्षया-दुदयाद् व्यवहारतः ।
सम्यक्त्वं स्वस्वरूपं यत् तत् करणानुयोगतः ॥25॥

एतस्मिन्नानुभूतिः स्या-दात्मनः केवलं रुचिः ।
परः कोऽपि न जानाति सम्यग्दर्शनलक्षणम् ॥26॥

सम्यग्दृष्टिरियं स्यान्न वा चरणानुयोगतः ।
अष्टाङ्गाचरणाज्ज्ञेया शमादिलक्षणात्तथा ॥27॥

श्रद्दधाति विजानाति सप्त तत्त्वानि ह्यागमात् ।
जिनं नत्वा गुरुं दृष्ट्वा श्रुतं श्रुत्वा स मोदते ॥28॥

क्वचिद् दानं क्वचित् पूजा क्वचिद् भक्तिः क्वचित् स्तुतिः ।
क्वचिद् भोगः क्वचिद् योगः क्वचित् तत्त्वानुचिन्तनम् ॥29॥

क्वचित् करोति सत्पाठं क्वचित् स्वाध्यायवर्तनम् ।
कवचित् जिनालयं स्तौति क्वचित् सद्गुरुसन्निधिम् ॥30॥

क्वचित्प्रभावनाकार्यं क्वचिद् दोषोपगूहनम् ।
क्वचित् साधर्मिवात्सल्यं क्वचित् पूजानुयोजनम् ॥31॥

क्व परमेष्ठिनो ध्यानं क्व परिग्रहसंचयः ।
क्व णमोकारसज्जापः क्व नारीगृहलग्नता ॥32॥

सम्यक्त्वाचरणं चैतद् हानेरादिकषायतः ।
उपचाराच्च मार्गी स्या-दव्रती परमार्थतः ॥33॥

अर्हत्सिद्धौ सदा साध्यौ त्रयः शेषास्तु साधकाः ।
साध्यैस्ते च समा पूज्याः सूरिदेशकसाधवः ॥34॥

रत्नत्रयमयो मार्गस्तदस्ति साधकत्रये ।
मोक्षमार्गस्थितास्ते हि तथान्ये दृष्टिसाधकाः ॥35॥

जानाति केवली सर्वं व्यवहारेण पश्यति ।
सर्वज्ञत्वं यतः पूज्यं पूज्या तद्व्यवहारता ॥36॥

कायवागवलम्बेन जिनस्य दिव्यदेशना ।
तत्त्वदायी यतः पूज्या पूज्या तद्व्यवहारता ॥37॥

तीर्थं प्रवर्तते नित्यं विधेस्तीर्थङ्करात् शुभात् ।
केवलिनोऽन्यथाऽन्यस्य पूज्या तद्व्यवहारता ॥38॥

देवास्तीर्थेशिनां केशान् क्षिपन्ति क्षीरवारिधौ ।
देहः खलु यतः पूज्यः पूज्या तद्व्यवहारता ॥39॥

परमालम्बते भेदं नयस्तु व्यवहारकः ।
विना पराश्रयं वीरैः कृता न तीर्थदेशना ॥40॥

निश्चयनयमुख्यत्वाज् ज्ञानं खलु शुद्धात्मनः ।
व्यवहारनयैर्ज्ञातं पूज्या तद् व्यवहारता ॥41॥

द्रव्यमन्यस्य साहाय्यं कुरुते परिणामयेत् ।
नोचेत् कालादिवह्नेश्च पाषाणात् स्वर्णता कथम् ॥42॥

व्यवहारनयेनैव तावदाचरतु क्रमात् ।
निश्चयेनानुभूतिर्न भवेत् संविदितात्मनः ॥43॥

लौकिको व्यवहारोऽस्ति तथैवालौकिको मतः ।
विवेच्य निजभावानां शुद्ध्यशुद्धिं सदा चरेत् ॥44॥

निजात्मालम्बनात्तावत् च्युत्वा हि लौकिकं क्वचित् ।
अनशनादितापेन रुचिमात्मनि वर्धयेत् ॥45॥

जपसिद्धान्तशास्त्राणा-मध्यात्मभावनाजुषाम् ।
अभ्यसनं सदा कार्यं यावन्नात्मनि संस्थितिः ॥46॥

आत्मा ज्ञानदृगात्मा चा-नन्तशक्तिगुणात्मकः ।
कर्म-नोकर्मभिर्न्यूनो नित्यमेवं हि भावयेत् ॥47॥

ईर्ष्या मानः स्वपूजाशा स्पर्धा न चित्तकल्मषाः ।
चित्ते कस्यापि वार्तातोऽ-मालिन्यं श्रेष्ठसाधना ॥48॥

ममाहं परमात्मत्वं ममाहं ज्ञानमात्मता ।
एवं संकल्प्य चान्यत्र संकल्पं संपरित्यजेत् ॥49॥

मुनेरलौकिकी वृत्ति-लोकेच्छोलोकरञ्जनी ।
लौकिकी लोकचारार्थं मनसा कार्याऽलौकिकी ॥50॥

रात्रिस्वप्नवदेवाभूद् दिवास्वप्नप्रभासनम् ।
येषां तेषां हि विश्रान्ता भङ्गुरा चित्तकल्पना ॥51॥

णमोकारमहामन्त्रै-रर्हद्ध्यानसमाश्रिताः ।
ये भव्यास्तत्त्वसंस्पर्शस्तै-र्नूनं हि कृतः निजे ॥52॥

शुद्धनयफलं बुद्धौ गृहीत्वा कतकं मुदा ।
भेदं कृत्वात्म-विज्ञान-मनुभूतिं मुने! कुरु ॥53॥

शुद्धनयफलं बुद्धौ गृहीत्वा कतकं मुदा ।
अस्मादात्मानुभूतिश्च भवेदास्थां गृहिन् कुरु ॥54॥

भेदस्य मात्रविज्ञानं भेदविज्ञानमुच्यते ।
भेदं कृत्वात्मविज्ञानं भेदविज्ञानमुच्यते ॥55॥

शुद्धात्मरुचिवृद्ध्यर्थं भेदविज्ञानवासना ।
गृही व्रती नयं तस्मात् शुद्धांशमवलम्बते ॥56॥

शुद्धनयस्य माहात्म्य-मेवं जानन्ति नो मुधाः ।
भूतार्थबोधतो दूराः श्रावकाः श्रमणास्तथा ॥57॥

यदि शुद्धनयस्यास्ति विषयः केवलात्मनः ।
सम्यक्त्वं तु तदा ब्रूहि प्रवृत्तौ तत्कथं भवेत् ॥58॥

परद्रव्यैर्विविक्तं यत् सर्वभावान्तरच्छिदम् ।
सम्यक्त्वं केवलज्ञाने कारणं तन्न संयमे ॥59॥

यदि हि स्याद् गृहस्थानां सम्यक्त्वं निश्चयात्मकम् ।
तदा नु केवलज्ञानं तेषु केनातिवार्यते ॥60॥

यस्मिंश्च सुस्थितः साधुः प्राप्नुयात् केवलं वरम् ।
तन्निश्चयात्मसम्यक्त्वं ब्रुवन्ति सूरिणः सदा ॥61॥

परिणतिर्मता नित्यं ध्यानगम्या हि केवलम् ।
द्रव्यार्थिकनयैश्चिन्त्या सा मता पारिणामिकी ॥62॥

ध्यानहीना गृहस्थास्ते कथं तस्याः समाश्रयात् ।
स्वात्मलाभं समाप्नुयुः कथं स्वस्थाश्च सम्मताः ॥63॥

परमार्थेन सम्यक्त्वं निश्चयं जायते तराम् ।
शुद्धोपयोगनामास्ति स्वात्मज्ञानं च तन्मतम् ॥64॥

तदात्मज्ञानभावार्थं मुनि-गृही यतेत च ।
ज्ञानाकारे निजं ज्ञानं मुहुर्मुहुश्च योजयेत् ॥65॥

एकतः स्वात्मविश्रामः एकतो देहविश्रमः।
एकतो विभ्रमो मोहा-देकतो ज्ञानविग्रहः॥66॥

एकतः शाश्वतं सौख्य-मन्यतः सौख्यवासना।
एकतः केलिरात्मज्ञे परतो देहकामना॥67॥

एतयोर्वर्तते यत्र भव्य! चिन्ता च चेतसि।
तदेव वर्धते नित्यं या वाञ्छा सा समाप्यते॥68॥

सुखे सौख्यमसौख्यं च दुःखे हि यावदात्मनि।
समतैकानुभूतिर्न मुने! तावन्निजात्मनि॥69॥

कुतोऽस्ति रे क्षमाधर्मः चित्तैकाग्र्यमतः कुतः।
कुतो ध्यानं कुतो जापः श्रामण्यभावना कुतः॥70॥

मा भैषीस्त्यज्यतां नित्यं मनोवाक्कायदाढ्र्यतः।
मान-मात्सर्य-मायोत्थ-कल्पना लोकरञ्जना॥71॥

नालं नाग्न्यं शरीरस्य स्वात्मानुभूतये मतम्।
विकारो विद्यते चित्ते देहदण्डेन किं भवेत्॥72॥

जयेन्नेत्रेन्द्रियं भावै-र्वनितानवलोकनात्।
जयेज्जिव्हेन्द्रियं भोज्यै रसवर्ज्यैः स्वभावनात्॥73॥

कामक्रोधादिकल्लोलैश-चित्तमक्षोभमार्णवम्।
भवार्णवं विना नावा प्रोत्तरति न संशयः॥74॥

हीयमाने बले बुद्धौ दुःषमे दुःखकालके।
चित्तधैर्यं यथाशक्ति धार्यतां सुतपः श्रुतम्॥75॥

दर्शनं शुद्धद्रव्यस्य द्रव्येभ्यश्चान्यतः पृथक्।
सम्यक्त्वं भाषितं यत्तत् शुद्धनयेन सम्मतम्॥76॥

शुद्धनयेन शुद्धात्मा सिद्धात्मा मन्यते बुधैः।
सम्यक्त्वं च भवेद्व्यक्तं गेहिनां तत्कथं भवेत्॥77॥

एकदेशेन शुद्धेन ध्याने हि वीतरागिणाम्।
सम्यक्त्वं तत्कथं शुद्धं गेहिनां जायते तराम्॥78॥

सम्यक्त्वं सह रागेण येषां तेषां हि निश्चयम्।
सम्यक्त्वं प्राप्नुयात् तेन शुद्धनयस्य भावना॥79॥

भाव्यः खलु नयः शुद्धः स्यात् सम्यग्दृष्टिभिः सदा।
स्थैर्यात् शुद्धे मुनीनाञ्चा-न्येषां स्यात् शुद्धभावना॥80॥

विषकुम्भैश्च तुषैस्तुल्यं व्यवहारं यमुक्तवान्।
स न हि सर्वथा हेयो निश्चयदृष्टितो मतः॥81॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां शुभो बन्धस्य कारणम्।
आगमस्य विवक्षायां शुद्धोऽपि बन्धकारणम्॥82॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां हेयौ बन्धास्रवौ मतौ।
आगमस्य विवक्षायां अहेयौ द्वौ कथंचित्तौ॥83॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां व्रतं बन्धस्य कारणम्।
आगमस्य विवक्षायां व्रतं निर्जरकारणम्॥84॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां मुख्योपादानकारणम्।
आगमस्य विवक्षायां मुख्यं निमित्तकारणम्॥85॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां सप्तमाद् वीतरागता।
आगमस्य विवक्षाया-मुपशान्तान् मता हि सा॥86॥

दअध्यात्मस्य विवक्षायां चतुर्थाञ्जिनसंज्ञया।
आगमस्य विवक्षायां केवली प्रोच्यते तथा॥87॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां भक्तौ शुभोपयोगिता।
आगमस्य विवक्षाया धर्म्ये शुभोपयोगिता॥88॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां सर्वे शुद्धाः प्राणिनः।
आगमस्य विवक्षायां सिद्धाः शुद्धाः प्राणिनः॥89॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां जीवेऽकर्मनिमित्तता।
आगमस्य विवक्षायां जीवे कर्मनिमित्तता॥90॥

अध्यात्मस्य विवक्षायां स्वे हि षट्कारिकी क्रिया।
आगमस्य विवक्षायां उभौ षट्कारिकी क्रिया॥91॥

भूतस्मृतिश्च बुद्धौ स्याच् चिन्ता वाऽनागतस्य हि।
वर्तमानं द्वयोर्घातात् न पश्येद् ध्यानमन्तरा॥92॥

यदा हि शान्तचित्तेऽस्मिन् भूतानागतनिर्वृतिः।
शून्यो बुद्धौ तदाऽऽयाति सद्विचारस्य सन्ततिः॥93॥

यावत्शून्यस्थितिर्बुद्धौ निर्विचारे सुजाग्रतिः।
तावच्चिन्तां विना नृणां गतः कालोऽनुमन्यते॥94॥

तावदेव मनः शान्ति-र्मनः शुद्धिश्च तावता।
आनन्दश्च तदा लब्धः स्वस्वरूपे रुचिस्तदा॥95॥

सर्वशक्तिं स गृण्हाति सूक्ष्मयोगादलौकिकीम्।
अनुभूतिः परा शान्तिः जायते परमात्मनः॥96॥

अनाकांक्षस्तदा योगी ज्ञानमात्रानुभूतितः।
पश्येत् शुद्धमुपयोगं स्वोपयोगस्य योगतः॥97॥

ध्यानाभ्यासेन कस्यैव जायते खलु योग्यता।
चिन्तयामि तदा चिन्ता न स्यात् स्वतः कदाऽपि सा॥98॥

यस्य हस्तं गते जाता शक्तिरेषा स शक्तिमान्।
स्वयं भाग्यस्य निर्माता निर्भयो न स सीदति॥99॥

दुःस्वप्नदुर्विचाराश्च शयने तस्य नो कदा।
सदानन्दः सदा स्वस्थः सदा हृष्टः स दृश्यते॥100॥

मनःस्वास्थ्यं तनुःस्वास्थ्यं दीर्घायु-र्दूरदर्शिता।
गुणाःसर्वे समायान्ति दाक्षिण्यं नम्रता क्षमा॥101॥

संव्यवहारनिश्चयै-रेवं ज्ञात्वा यथार्थताम्।
प्रतिपदं सुगन्तव्यं मुख्यगौणावलम्बनात्॥102॥

एवं विबुध्य विविधैश्च नयैः सुबुद्धया
स्वात्मोपयोगशुचिकारणबोधहेतिम्।
तावत्पतेच्चिदि चमत्कृतबोधरूपं
कैवल्यधाम समुदेति निजे न यावत्॥103॥

यद्विज्ञातं गुरो र्वाग्भ्यः श्रुताभ्यासाच्च चिन्तनात्।
तद्धि प्रोक्तं मया भक्त्या प्रवचनस्य नान्यथा॥104॥

विद्यार्णवगुरुर्यस्य कृपया तेन सिंचितः।
प्रणम्यसागरोऽन्योवा किं स्यात् कष्टं महीतले॥105॥

हरियाणाप्रदेशेऽस्मिन् वर्षायोगे च विंशके।
रेवाड़ीनगरे पूर्णं कृतं शास्त्रं सुभावतः॥106॥

शब्दपदसमासैश्च मनोऽभिप्रायतामनु।
रचना जायते कृता न किञ्चिच्च शिवार्थिना॥107॥

परिशिष्ट-2

अकारादि क्रम से श्लोक सूची

श्लोक प्रारम्भ	क्रम सं.	पृष्ठ	श्लोक प्रारम्भ	क्रम सं.	पृष्ठ
प्रणिपत्य महावीरं...	।।1।।	1	सम्यग्दृष्टिरियं स्यान्न...	।।27।।	27
आत्मनोऽर्थग्रही चेष्टा...	।।2।।	2	श्रद्दधाति विजानाति...	।।28।।	28
शुभाशुभं तथा शुद्धं...	।।3।।	3	क्वचिद् दानं क्वचित्...	।।29।।	29
सम्यक्त्वेन शुभो...	।।4।।	4	क्वचित् करोति...	।।30।।	30
अस्मिन् काले...	।।5।।	5	क्वचित्प्रभावनाकार्यं...	।।31।।	31
अनेकान्ते चतुर्भित्तौ...	।।6।।	6	क्व परमेष्ठिनो ध्यानं...	।।32।।	32
क्षीयमाणस्य देहस्य...	।।7।।	7	सम्यक्त्वाचरणमेतद्...	।।33।।	33
भोजने शयने चैव...	।।8।।	8	अर्हत्सिद्धौ सदा...	।।34।।	34
निश्चयेन नयेन...	।।9।।	9	रत्नत्रयमयो मार्गस्तदस्ति...	।।35।।	35
जीवास्त्वनादिमिथ्यात्वाद्...	।।10।।	10	जानाति केवली...	।।36।।	36
जीवेन न कदा...	।।11।।	11	कायवागवलम्बेन...	।।37।।	37
ततो ज्ञानेन निर्णीय...	।।12।।	12	तीर्थं प्रवर्तते नित्यं...	।।38।।	38
निश्चयेनात्मरूपं...	।।13।।	13	देवास्तीर्थेशिनां...	।।39।।	39
निश्चयं नयमेवं...	।।14।।	14	परमालम्बते भेदं...	।।40।।	40
निश्चयं खलु ज्ञात्वा...	।।15।।	15	निश्चयनयमुख्यत्वाज्...	।।41।।	41
निश्चयं खलु ज्ञात्वा...	।।16।।	16	द्रव्यमन्यस्य साहाय्यं...	।।42।।	42
निश्चयोऽपि मतो...	।।17।।	17	व्यवहारनयेनैव...	।।43।।	43
ज्ञानेन ज्ञायते...	।।18।।	18	लौकिको...	।।44।।	44
उपायेऽनादरा...	।।19।।	19	निजात्मालम्बनात्तावत्...	।।45।।	45
तत्त्वं सुविज्ञ!...	।।20।।	20	जपसिद्धान्तशास्त्राणा...	।।46।।	46
बाह्यादभ्यन्तराद्...	।।21।।	21	आत्मा ज्ञानदृगात्मा...	।।47।।	47
यथात्मा कर्मभिर्बद्धः...	।।22।।	22	ईर्ष्या मानः...	।।48।।	48
श्रद्धानात् सम्प्रतीतिः...	।।23।।	23	ममाहं परमात्मत्वं...	।।49।।	49
सप्त-तत्त्वार्थविश्वासो...	।।24।।	24	मुनेरलौकिकी...	।।50।।	50
विधेरुपशमात्...	।।25।।	25	रात्रिस्वप्नवदेवाभूद्...	।।51।।	51
एतस्मिन्नानुभूतिः...	।।26।।	26	णमोकारमहामन्त्रै...	।।52।।	52

श्लोक प्रारम्भ	क्रम सं.	पृष्ठ
शुद्धनयफलं बुद्धौ...	।।53।।	53
शुद्धनयफलं बुद्धौ...	।।54।।	54
भेदस्य मात्रविज्ञानं...	।।55।।	55
शुद्धात्मरुचिवृद्ध्यर्थं...	।।56।।	56
शुद्धनयस्य माहात्म्य...	।।57।।	67
यदि शुद्धनयस्यास्ति...	।।58।।	58
परद्रव्यैर्विविक्तं	।।59।।	59
यदि हि स्याद्...	।।60।।	60
यस्मिंश्च सुस्थितः...	।।61।।	61
परिणतिर्मता नित्य...	।।62।।	62
ध्यानहीना गृहस्थास्ते...	।।63।।	63
परमार्थेन सम्यक्त्वं...	।।64।।	64
तदात्मज्ञानभावार्थं...	।।65।।	65
एकतः स्वात्मविश्रामः...	।।66।।	66
एकतः शाश्वतं...	।।67।।	67
एतयोर्वर्तते यत्र भव्य!...	।।68।।	68
सुखे सौख्यमसौख्य...	।।69।।	69
कुतोऽस्ति रे क्षमाधर्मः...	।।70।।	70
मा भैषीस्त्यज्यतां...	।।71।।	71
नालं नाग्न्यं शरीरस्य...	।।72।।	72
जयेन्नेत्रेन्द्रियं...	।।73।।	73
कामक्रोधादिकल्लोलैः...	।।74।।	74
हीयमाने बले बुद्धौ...	।।75।।	75
दर्शनं शुद्धद्रव्यस्य...	।।76।।	76
शुद्धनयेन शुद्धात्मा...	।।77।।	77
एकदेशेन शुद्धेन ध्याने...	।।78।।	78
सम्यक्त्वं सह रागेण...	।।79।।	79
भाव्यः खलु नयः...	।।80।।	80
विषकुम्भं व...	।।81।।	81
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।82।।	82
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।83।।	83
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।84।।	84
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।85।।	85
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।86।।	87
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।87।।	88
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।88।।	89
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।89।।	90
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।90।।	91
अध्यात्मस्य विवक्षायां...	।।91।।	92
भूतस्मृतिश्च बुद्धौ...	।।92।।	93
यदा हिं...	।।93।।	94
यावत्शून्यस्थिति...	।।94।।	95
तावदेव मनः शान्ति...	।।95।।	96
सर्वशक्तिं स गृण्हाति...	।।96।।	97
अनाकांक्षस्तदा योगी...	।।97।।	98
ध्यानाभ्यासेन कस्यैव...	।।98।।	99
यस्य हस्तं गते जाता...	।।99।।	100
दुःस्वप्नदुर्विचाराश्च...	।।100।।	101
मनःस्वास्थ्यं...	।।101।।	102
संव्यवहारनिश्चयै	।।102।।	103
एवं विबुध्य...	।।103।।	104
यद्विज्ञातं गुरो र्वाग्भ्यः...	।।104।।	105
विद्यार्णवगुरुर्यस्य...	।।105।।	106
हरियाणाप्रदेशेऽस्मिन्...	।।106।।	107
शब्दपदसमासैश्च...	।।107।।	108